# हिन्दी दलित साहित्य के विकास में 'हंस' पत्रिका का योगदान ( 2001-2008 )

जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालयों में एम.फिल् उपाधि
हेतु प्रस्तुत
लघु शोध प्रबंध


शोध निर्देशक
डॉ. राम चन्द्र

शोधार्थी
मीनाक्षी


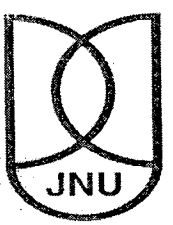



भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067



2010

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
**JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY**
**Centre of Indian Language**
**School of Language, Literature & Culture Studies**
**New Delhi-110067, India**

Date : 28/7/2010

## DECLARATION

I declared that the work done in this Dissertation entitled **"HINDI DALIT SAHITYA KE VIKAS MEIN 'HANS' PATRIKA KA YOGDAN (2001-2008) (THE CONTRIBUTION OF 'HANS' MAGAZINE IN THE DEVELOPMENT OF HINDI DALIT LITERATURE (FROM 2001 TO 2008))"** submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree or any other University/Insitution.

Minakshi

**MINAKSHI**
(Research Scholar)

23.07.10

**DR. RAM CHANDRA**
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

**Prof. KRISHNASWAMY NACHIMUTHU**
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

माँ-पापा.....
जिनके प्यार और विश्वास ने
मुझे हमेशा आगे बढ़ाया

## अपनी बात

दलित साहित्य आज हमारे चिंतन के केन्द्र में तेजी से आ रहा है। समकालीन परिवेश में यह हाशियाकृत समाज मुख्यधारा में स्थान बनाकर साहित्य को नये संसार, नये समाज, नये मनुष्य से परिचय कराता है। दलित एवं दलित साहित्य का अर्थ एक ऐसे वर्ग से है, जो हजारों वर्ष की सामाजिक दासता की बेड़ियों में जकड़ा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उसे स्वतंत्रता का आभास हुआ उसने भी अपने बंधनों को तोड़ने हेतु संघर्ष किये, संगठन बनाये और उसी संदर्भ में कुछ-कुछ शिक्षा की ओर उन्मुख हुआ। दलित साहित्य में दलित अन्याय का प्रतिकार करने हेतु एक जुट होकर यथास्थितिवादी वर्चस्वशाली समाज से लड़ता है। वह एक ऐसा भारत बनाने में सहयोगी देता है, जो समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व पर आधारित हो न कि असमानता, विषमता और शोषण पर।

दलित साहित्य के ऐसे समाज बनाने में कथाकार राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित 'हंस' पत्रिका की अहम भूमिका है। उसे दलित साहित्य में उठने वाले प्रश्नों पर निरपेक्ष होकर विचार करने का प्रयत्न किया है। 'हंस' पत्रिका समाजिक विसंगतियों के जटिलताओं से सीधे टकराती है और दलित साहित्य की संपूर्ण पहचान कराने का प्रयास करती है।

प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध में मानव की उस दशा का अवलोकन है जहाँ वह धारणा से दलित है, मान्यताओं से दलित है, परंतु वही दलित अपनी विषम परिस्थितियों में भी यथास्थितिवादी सोच के बरक्स समाज को एक नई सोच और नयी चेतना से रूबरू कराता है और उन बुद्धिजीवियों का आवाहन करता है। जो गांव से निकलकर शहर की ओर आएं और पढ़-लिखकर उच्च पदवियों पर पहुँच गए, शहरों में वे जातिवाद, छुआछूत के विरूद्ध लेक्चरबाजी बहुत करते हैं, वे ही गांव में जाकर उसका विरोध करने से कतराते हैं। उन्हें उनकी जन्मभूमि बुला रही है, उनके बिना पढ़े-लिखे मॉ-बाप, भाई-बहन का अंत:करण याद करता है। उस समय जब उनके ऊपर कोई अन्याय होता है और वे गरीब असहाय अशिक्षित ठंगों से रह जाते हैं। प्रस्तुत शोध प्रबंध में दलित साहित्य के इन्हीं रिश्तों को जांचने-परखने की कोशिश हुई है।

लघु शोध प्रबंध का पहला अध्याय 'दलित साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप है जिसमें दलित साहित्य को परिभाषित करते हुए उसके वैचारिकी एवं संभावनाओं को भी रेखांकित किया गया है। दलित साहित्य की वैचारिकी चार्वाक दर्शन, बौद्ध धर्म भक्ति कालीन संत साहित्य से होते हुए आधुनिककाल में महात्मा फूले अम्बेडकर तक पहुँची, और दलित साहित्य की यह श्रमणवादी संस्कृति, ब्राह्मणवादी संस्कृति को समय-समय पर पटकनी देती रही है, परंतु ब्राह्मणवादी संस्कृति की बुनावट इतनी जटिल है कि वह हर बार उसे अपने संजाल में समेटे रहा। फिर भी दलित साहित्य अपने अनुभवों को भाषा से, भाषा को सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन को मानव मूल्यों से जोड़ा है। एक साथ इतने आयामों का आना दलित साहित्य के संभावनाओं को उजागर करता है।

दूसरा अध्याय ' हिन्दी दलित साहित्य के प्रश्न एवं 'हंस पत्रिका' है। इसमें 2001 से 2008 तक के 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित विभिन्न दलित कवितओं, आत्मकथाओं, कहानियों, लेखों का अध्ययन किया गया है। इन रचनाओं के माध्यम से 'हंस' ने समाज में व्याप्त छुआछूत जातिवाद जैसे सामाजिक विसंगतियों पर प्रश्न चिह्न लगाया और खासकर हिन्दी पट्टी के पाठकों को बिना किसी पूर्वग्रह के दलित साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया।

लघु-शोध प्रबंध के 'हिन्दी दलित साहित्य का विकास और 'हंस' पत्रिका' नामक तीसरे अध्याय में हिन्दी दलित साहित्य के विकास में 'हंस' पत्रिका के योगदान की बात की गयी है। इस अध्याय में 2001 से 2008 तक के हंस में दलित साहित्य में आए सकारात्मक नकारात्मक परिवर्तनों के साथ दलित साहित्य के व्यापक स्वरूप को स्वीकारने की भरपूर कोशिश हुई है। दलित साहित्य में समय-समय पर होने वाली बहसों संगोष्ठियों के ज़रिये हंस ने दलित साहित्य की वैचारिकी को मजबूत किया है। 'मेरी-तेरी उसकी बात' नामक कालम में छपने वाली राजेन्द्र यादव की संपादकीय हंस की वह वैचारिक धारा है जो पाठकों को नई ऊर्जा से भर देती है। 'हंस' के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने दलित साहित्य को मुख्यधारा में मजबूती से स्थापित करने का प्रयास किया है।

इस शोध प्रबंध को पूरा करने का पूरा श्रेय मैं अपने गुरू डॉ. रामचन्द्र को देना चाहूँगी जिन्होंने शोध विषय चुनने से लेकर विषय की गंभीरता को सारगर्भित करने और पूर्ण रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिसके तहत मैंने अपने विचारों को नई दिशा दी है जो मेरे आत्मविश्वास तथा अस्तित्व के लिए एक धनात्मक उत्प्रेरक है। सर के इस अमूल्य योगदान को शब्द देकर सीमित नहीं करना चाहती ।

घर से दूर रहकर अगर इस कार्य को पूरा कर पाई तो इसमें सबसे बड़ा योगदान दादा-दादी, माँ - पापा, बुआ-फूफाजी, चाची-चाचा का है, उनका प्यार और आर्शीवाद, अटूट विश्वास हमेशा मुझ पर बना रहा, छोटे-भाई-बहनों के प्यार ने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया है।

हास्टल में रहते हुए अनु दीदी-सुशील भइया से मुझे बड़ी बहन और बड़े भाई का स्नेह और साहित्य को और करीब से जानने का मौका मिला। मित्र कविता ने नैतिक आर्थिक रूप से सहयोग कर हमेशा मेरी उलझनों को सुलझाया है, और छोटी बहन एकता श्रीवास्तव ने अपना अमूल्य समय देकर मेरे काम करने की ललक को बनाये रखा। मैं इन सभी के इस स्नेह और प्यार भरे साथ को आभार प्रकट कर कम नहीं होने देना चाहती।

अंत में मैं हंस के इन सभी पाठकों की शुक्रगुजार हूँ जिन्होंने 'अपना मोर्चा' कालम में अपने पत्रों के जरिये मेरी दलित साहित्य की समझ को और विकसित किया।

यह लघु-शोध प्रबंध संजय तिवारी जी की टंकण दक्षता से अपने अंतिम रूप को प्रकट कर पाया है जिसके लिए मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

मीनाक्षी

# विषय सूची


| | | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| अपनी बात | | I-III |
| प्रथम अध्याय | दलित साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप | 1-28 |
| | (क) दलित साहित्य क्या है ? | |
| | (ख) दलित साहित्य की वैचारिकी | |
| | (ग) दलित साहित्य की संभावनाएँ | |
| द्वितीय अध्याय | हिन्दी दलित साहित्य के प्रश्न एवं 'हंस' पत्रिका | 29-96 |
| | (क) दलित कविताएँ | |
| | (ख) दलित आत्मकथाएँ | |
| | (ग) दलित कहानियाँ | |
| | (घ) लेख | |
| तृतीय अध्याय | हिन्दी दलित साहित्य का विकास और 'हंस' पत्रिका | 97-118 |
| उपसंहार | | 119-121 |
| संदर्भ-ग्रंथ सूची | | 122-125 |

# प्रथम अध्याय

## दलित साहित्य की अवधारणा एवं स्वरूप

(क) दलित साहित्य क्या है ?

(ख) दलित साहित्य की वैचारिकी

(ग) दलित साहित्य की संभावनाएँ

## (क) दलित साहित्य क्या है ?

दलित साहित्य मूलतः मुक्ति एवं समतामूलक साहित्य है। यह समाज में व्याप्त वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत एवं गरीबी से मुक्ति हेतु संघर्षरत है। दलित साहित्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच जातीय, उपजातीय और धार्मिक स्तर पर भेदभाव न हो, मनुष्य-मनुष्य की दासता से मुक्त हो। ऐसे में समाज का परिवेश मानवतापरक एवं समतामूलक होगा। दलित साहित्य दलितों द्वारा भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति का और दलितों द्वारा लिखे गये अनुभवों का साहित्य है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में,

*"अनुभूति की प्रामाणिकता दलित लेखन के लिए अनिवार्य है। चूंकि हिन्दी साहित्य के भीतर दलित पात्र आबजेक्ट की तरह इस्तेमाल होते रहे हैं किंतु सबजेक्ट कभी नहीं बनाये गये।"* [1]

दलित साहित्य समाज के उस वर्ग के विषय में लिखा जा रहा है, जो समाज के हाशिये पर पड़ा हुआ है, उसे मुख्यधारा में कभी शामिल नहीं किया गया। वह दलित वर्ग है जो सदियों से मुख्यधारा में शामिल गैर दलितों द्वारा बनाये गये सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक जंजीरों में जकड़ा हुआ है। जिसे शिक्षा, समानता, स्वतंत्रता, सद्भावना आदि से वंचित रखा गया। दलित साहित्य ऐसे ही दलितों, पीड़ितों, वंचितों की पीड़ा का दस्तावेज प्रस्तुत करता है और उन्हें उनके अधिकारों से भी परिचित कराता है। दलित लेखक मोहनदास नैमिशराय के शब्दों में-

*"दलित साहित्य दलितों का ही हो सकता है। क्योंकि उन्होंने जो उपेक्षापूर्ण जीवन भोगा है, वह कल्पना की वस्तु नहीं उनका भोगा हुआ यथार्थ और जख्मी लोगों का दस्तावेज है, वह उनकी मुक्ति का संदेश है, वह चेतना का उगता हुआ सूरज है उसमें गुस्सा और नफरत अनुभूति प्रेरित है, उसे कला के लिए छलने की जरूरत नहीं।"*[2]

---

[1] हंस अक्टूबर 2009-, पृ. 89

[2] राष्ट्रीय सहारा 25 जून 2000

दलित साहित्य दलितों पर हुए अत्याचार को बयाँ करता है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्तर पर जितना असहाय एवं निराश एक दलित महसूस करता है, उतना असहाय एवं निराश गैर दलित कभी महसूस नहीं कर सकता, छुआछूत एवं गरीबी का दंश जो एक दलित झेलता है, उसकी कभी सवर्ण कल्पना नहीं कर सकता। गैर दलित को सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर कोई परेशानी नहीं झेलनी पड़ती है। उनके लिए शिक्षा का अवसर एवं आत्मविकास का द्वार खुला हुआ है। इसलिए सवर्णों में गरीब व्यक्ति अपने गुण एवं कृत्य के बलबूते पर आगे बढ़ सकता है और अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर प्रतिष्ठित जीवन जी सकता है। परंतु अस्पृश्यों में गुणी एवं कर्मठी व्यक्ति भी आगे नहीं बढ़ सकता क्योंकि धर्म, दण्ड, सत्ता ने सभी क्षेत्रों में उसका प्रवेश निषिद्ध किया है।

दलित अपने दलित होने के कारण ज्यादा अभिशप्त हैं। दलित जब भी कोई कार्य करने के लिए हाथ बढ़ाता है तो वह काम भी अछूत माना जाता है। ऊँचे ओहदे पर रहने के बावजूद सवर्ण चपरासी दलित अधिकारी को पानी पिलाने से हिचकिचाता है। इन्हीं सब बातों के चलते दलित साहित्य मौजूदा भारतीय परंपरा को नकारता है।

दलित साहित्य में भारतीय समाज में स्थापित परंपरा का नकार दिखाई देता है। धर्म पर आधारित रूढ़ियों एवं विचारों के प्रति विद्रोह है। यह विद्रोह उस समाज के विरूद्ध जिसने उन्हें पददलित शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर उनके प्रति अन्याय, अत्याचार के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता को पूरा-पूरा परिचय दिया है। परंतु इसका अर्थ यह विल्कुल नहीं है कि दलित को उस समाज से पृथक होना है, वरन समाज में रहकर दलितों के लिए जो कल्याणकारी है उसे पूर्व परंपराओं को हटाकर नवीन परंपराओं को स्थापित करना है।

दलित साहित्य ने उन वहिष्कृत लोगों को अपना नायक बनाया है जिसे संपूर्ण व्यवस्था ने अमंगल का कारक एवं अपवित्र माना, पूर्वजन्म का अपराधी कहकर जिसकी निंदा की गयी, सभी स्मृतिकारों ने जिनके प्रति शत्रुता बरती और जिन्हें कभी साहित्य में नायक, उपनायक का स्थान नहीं मिला। यदि स्थान मिला भी तो हमेशा खलनायक या नीचवर्ग के रूप में, दलित साहित्य ने ऐसे ही खलनायकों, बहिष्कृतों को अपनी रचना का केन्द्र बनाया, और परंपरा में मर्यादित नायकत्व की गरिमा देने वाले

सांस्कृतिक नैतिक एवं साहित्यिक आदर्शों, संदर्भों को नकारा है। उदाहरणस्वरूप राम दलितों के नायक कभी नहीं हो सकते जिन्होंने शम्बूक ऋषि को इसलिए मारा कि वे अपने वर्णकर्म के विपरीत तपस्या कर ज्ञान अर्जित कर रहे थे, या शुपनखा का नाक-कान सिर्फ काट लिया कि उसने राम के समक्ष सिर्फ शादी का प्रस्ताव रखा था। द्रोणाचार्य दलितों के नायक कभी नहीं हो सकते जिन्होंने अर्जुन के क्षत्रिय धर्म के निर्वाह हेतु भील एकलव्य का दाहिना अंगूठा ही गुरू दक्षिणा में दान मांग लिया। द्रोणाचार्य जैसे गुरू आज भी गाहे-बगाहे मिल जाते हैं, उदाहरणस्वरूप ओमप्रकाश बाल्मीकि का वह मास्टर जो स्कूल चमकाने के लिए ओमप्रकाश के हाथ में झाड़ू पकड़ा देता है और जब शिक्षा की बारी आती है तो उसको अलग कर दिया जाता है। ऐसे में दलितों के लिए तो शम्बूक एकलव्य, कबीर, रैदास नायक है जिन्होंने वर्ण कर्म के विपरीत ज्ञान अर्जित कर स्वयं शोषणमुक्त जीवन जीने एवं वर्ण कर्म से उपर उठने की कोशिश की और लोगों को भी यह सीख दी कि वे अपनी जिंदगी शोषण मुक्त करें ठीक वैसे ही जैसे डॉ. अम्बेडकर ने शिक्षित हो संगठित हो संघर्ष करने का आवाहन करते हुए दलितों से कहा था- *"दलितों तुम विद्रोह करो, तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है, पर पाने के लिए आजादी है।"*[1]

दलित साहित्य सवर्णों द्वारा स्थापित परंपरा को नकारता है और सवर्णों द्वारा लिखित ग्रंथों वेद, स्मृतियों को भी सिरे से खारिज करता है, क्योंकि ऐसी ही परंपराये एवं ग्रंथ सवर्ण पारित मानसिकता को बढ़ावा देते हैं जो भी परंपरा एवं इतिहास में है वह सब कुछ सवर्णों के लिए सवर्णों द्वारा बनाया गया है। कथाकार राजेन्द्र यादव के शब्दों में-

*"मैं हमेशा से कहता हूँ कि दलितों और स्त्रियों का कोई इतिहास नहीं है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह तो सवर्ण एवं पुरूषों का इतिहास है। उसमें दलित कितना मालिक के लिए वफादार रहा या कितना मालिक के कहने पर बस्तियाँ जलाई, कैसे उसने मालिक की जगह अपने सीने पर गोलियाँ खाई ये दलित का इतिहास है, स्त्री कितनी पतिव्रता थी, निष्ठावान थी, हमारे लिए सती हो जाती थी, कैसे उसने राजवंश को बचाने के लिए अपने बच्चे की बलि दे दी यह स्त्री का इतिहास है। यानी इनका नहीं*

---

[1] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 68

*बल्कि इनकी वफादारी का इतिहास है, दरअसल इतिहास उसका होता है जो अपने फैसले खुद लेते हैं, दलित और स्त्री अपने फैसले नहीं ले सकते थे।"*[1]

राजेन्द्र यादव का यह कथन सही है कि सवर्णों के इतिहास एवं परंपराओं में दलितों का स्थान नहीं है, यदि है भी तो वफादारी का इतिहास। परंतु यह कहना कि उनका कोई इतिहास नहीं है गलत होगा। क्योंकि सवर्ण समाज के बरक्स एक ऐसा समाज भी विकसित हो रहा था जिसकी किसी ने नोटिस नहीं ली। उदाहरणस्वरूप प्रेमचन्द द्वारा लिखित सदगति कहानी सिर्फ दलित स्थिति ही बया कर पाती है, परंतु 1914 में प्रकाशित हीराडोम की कविता 'अछूत की शिकायत' दलितो द्वारा सवर्ण समाज के प्रति उलाहना तो है ही साथ-साथ उनके ईश्वर की आलोचना भी गई है-

"कहवां सुतल बाटे, सुनत न वारे अब
डोम जानि हमनी के हुए से डेरइले।"[2]

रमणिका गुप्ता के शब्दों में, "*इसे दलित सोच की वर्तमानधारा की पहली रचना कहा जा सकता है। चूंकि इसमें केवल दलितों की शिकायत या व्यथा ही नहीं दर्ज की गयी है, बल्कि आक्रोश एवं विरोध भी जताया गया है। इस कविता में पहली बार भगवान की उस शास्त्र सम्मत संरचना पर भी प्रश्न उठाया गया है जो दलितों को मनुष्यता के दायरे से बाहर रखती है।*"[3] इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि दलितों का अपना कोई इतिहास या परंपरा नहीं है, कबीर, रैदास, फूले, अछूतानंद हरिहर, अम्बेडकर ने जो परंपराएं स्थापित की है वे परंपराएं 'स्व' यानि अस्मितामूलक परंपराएं है, सिर्फ जरूरत है उन पर चलने की और जरूरत है ऐसे इतिहास के निर्माण करने की जो शोषणमुक्त बराबरी एवं समतामूलक समाज पर आधारित हो। जैसा कि दलित लेखक शरण कुमार लिंबाले ने लिखा है- "*दलित लेखक स्थापित परंपरा को नकारते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि दलितों के पास परंपरा नहीं है। दलित लेखक बुद्ध, कबीर, फूले, अम्बेडकर की परंपरा मानते हैं। काल की मर्यादा का उल्लंघन कर नये-पुराने लेन-देन में से संस्कृति और परंपरा भी पैदा होती है। इस बागी परंपरा को स्वयं का तत्व ज्ञात होता है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व*

---

[1] हंस जनवरी 2001, पृ. 4

[2] शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, पृ. 17

[3] वहीं, पृ. 17

*निर्मित होता है, आगे चलकर यह नई धारा संस्कृति का अविभाष्य अंग बनती है, इसके उदारणस्वरूप वैदिक परंपरा नकारने वाली अवैदिक परंपरा की ओर इंगित करना पड़ेगा।"*[1] अतएव दलित साहित्य स्थापित परंपरा को नकार कर एक ऐसे परंपरा और इतिहास बनाने में प्रयासरत है जिसका आधार मानवतापरक समाज हो।

दलित साहित्य में जो बात मूल रूप से उजागर होती है, वह है जाति व्यवस्था का खंडन और साथ ही उससे उपजे छुआछूत का अंत। दलितों का हर तरह से शोषण जाति के नाम पर ही किया जाता है। जाति के नाम पर उन्हें शिक्षण संस्थानों से हतोत्साहित एवं अपमानित होना पड़ता है। और इन्हें सवर्णो द्वारा तय किये गये परंपरागत पेशे में ढकेला जाता है। उन्हें समाज में उचित स्थान नहीं मिलता उनके सारे मानवीय अधिकार छीन लिये जाते है। इन सभी बुराइयों की जड़ जातिवाद में है। उदाहरणस्वरूप यदि किसी जाति के नाम के आगे सरनेम नहीं है तो उससे पूछा जायेगा कि तुम्हारी जाति क्या है? सिर्फ हिन्दू कह देने से लोगों को संतोष नहीं होता जब तक कि वह अपनी जाति न बता दे, जबकि मुसलमान सिक्खों एवं ईसाईयों से उनकी जाति नहीं पूछी जाती। डा. अम्बेडकर के शब्दों में-

*"आपके यह पूछने पर जब कोई अहिंदू कहता है कि वह मुसलमान या ईसाई है तो आप उसके उत्तर से संतुष्ट हो जाते हैं। उससे यह नहीं पूछते कि मुसलमान में तुम शेख, सैयद, जुलाहा कौन हो? परंतु जब कोई मनुष्य कहता है कि वह हिंदू है तो इतने से आपको संतोष नहीं होता और आपको उसकी जाति पूछने की आवश्यकता रहती है क्योंकि हिंदू होने की दशा में जाति इतनी आवश्यक है कि उसके जाने बिना आप वह स्थिर नहीं कर सकते कि आपको उसके साथ किस तरह बरतना चाहिए।"*[2]

भारतीय समाज का सबसे घृणास्पद पहलू जातिवाद और इससे उपजा छुआछूत है। इस व्यवस्था में जातीय पिरामिड के शीर्ष पर ब्राह्मणवाद को हमेशा पाला पोसा गया नतीजतन समाज का एक बड़ा हिस्सा विकास एवं मानवीय गरिमा से वंचित सदियों से शोषित रहा है और हद तो तब हो जाती है कि मनुष्य मनुष्य के साथ पशु से भी बदतर

---

[1] शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र,, पृ. 40

[2] जय प्रकाश कर्दम: जाति एक विमर्श, पृ. 15

व्यवहार करता है। छूआछूत की भावना के कारण सवर्ण मनुष्य दलितों अस्पृश्यों द्वारा छुए किसी भी चीज को शुद्ध नहीं कर पाता जबकि यदि कोई जानवर उस वस्तु को छू दे तो उसे वे मंत्रों आदि के द्वारा शुद्ध कर अपना लेते हैं। अछूतों के ऐसे ही जीवन का वर्णन डा. अम्बेडकर बयान करते हैं, *"हिन्दू समाज व्यवस्था ने देश के पंचमांश जनसंख्या को अछूत बना रखा है? पेशवाओं के शासनकाल में महाराष्ट्र में इन अछूतों को उस सड़क पर चलने की आज्ञा नहीं थी जिस पर कोई सवर्ण हिन्दू चल रहा हो इनके लिए आदेश था कि ये अपनी कलाई या गले में काला धागा बांधें ताकि हिंदू इन्हें भूल से छू न लें, पेशवाओं की राजधानी पूना में तो इन अछूतों के लिए यह आदेश या कि ये कमर में झाड़ू बांधकर चले ताकि इनके पैरों के चिह्न झाड़ू से मिट जायें और कोई हिन्दू इनके पग चिन्हों पर पैर रखकर अपवित्र न हो जाये, अछूत अपने गले में हाड़ी बांधकर चलें और जब थूकना हो तो उसी में थूके भूमि पर पड़े हुए अछूत के थूक पर किसी हिंदू का पैर पड़ जाने से वह अपवित्र हो जायेगा।"*[1]

यह कैसी विडम्बना है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' सिद्धांत से मनुष्य के एक वर्ग को अलग कर दिया गया। यह तो हुई स्वाधीनता से पहले की बात। परंतु आज जब भारत स्वतंत्र हो चुका है और संवैधानिक तौर पर समता के अधिकार के अंतर्गत अस्पृश्यता के अंत की घोषण की जा चुकी है। फिर भी आजाद भारत की चलती हुई ट्रेन में दलित लेखक ओमप्रकाश बाल्मीकि ने जैसे ही अपने सहयात्री को अपनी जाति का परिचय दिया, वैसे ही सारी आत्मीयता नफरत में बदल गयी और उसने मुंह फेर लिया। यही नहीं उनके घरवाले भी उनसे सरनेम बदलने को कहते हैं। जाति व्यवस्था एवं छुआछूत से उपजी दमनीयता के कारण लोग अपनी पहचान से कतरा रहे हैं। यह पहचान का संकट आज भी बरकरार है। इससे यह संभावना की जा सकती है कि जाति व्यवस्था द्वारा दलितों पर किये गये, अन्याय, शोषण अस्पृश्यता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जबकि भूमंडलीकरण के कारण पूरा विश्व एक गांव में तब्दील हो गया है पर जाति व्यवस्था है कि मन में घुसपैठ किये है जो समय-समय पर अवसर पाकर उछल पड़ती है, परंतु यही

---

[1] जय प्रकाश कर्दम: जाति एक विमर्श, पृ. 16

बात जब दलितों के मुंह से निकलती है तो हंगामा खड़ा हो जाता है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में,

*"अजीब बात है कि पारिवारिक संबंधों से लेकर नियुक्तियों, नौकरियों और राजनीतिक चुनावों में हम हर कहीं हर क्षण जातिवादी समीकरण बैठते हैं। भारतीय राजनीति चाहे किसी भी रंग का हो बिना इस जातिवाद के एकदम नहीं चल सकती, रोज जातिवादी संगठन अपने अधिवेशन करते हैं, पत्रिकाएँ निकलती हैं और गांव-गांव में अलग-अलग जातियों की पंचायते सक्रिय है, वहाँ बिना पूछे अनजान आदमी को पानी तक नहीं पिलाया जाता है, इस सामाजिक स्थिति को लेकर देश विदेश में ना जाने कितने विश्लेषण शोध प्रबंध लिखे गये हैं। एलीट क्लास पर न जाने कितने अध्ययन आये हैं। सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्र वर्ण के वर्चस्व पर समाज वैज्ञानिकों से लेकर राजनीति शास्त्रियों ने दर्जनों पोथे लिखे हैं, वहीं सवाल साहित्य में आते ही वर्जनीय क्यों हो उठता है।"*[1]

दलितों के शोषण का प्रमुख कारण जातिवाद एवं छुआछूत में समाहित है, इसको और स्पष्ट तरीके से समझने के लिए कँवल भारती की एक कविता दृष्टव्य है-

''चिड़िया भूखी थी। इसलिए गुनहगार थी
मारी गयी वह चिड़िया। जो भुखी थी
गोरख पाण्डे ने गलत लिखा था
वह चिड़िया भूख से नहीं। चिड़िया होने से पीड़ित थी
वह चिड़िया थी। इसलिए गुनहगार थी। चिड़िया जो मारी गयी।''[2]

कँवल भारती के इस कविता के माध्यम से देखा जा सकता है कि दलित भूख से पीड़ित तो है, परंतु वह दलित होने से ज्यादा पीड़ित है। आज भी दलितों की अधिकांश जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जी रही है और अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में अक्षम है। क्योंकि वह दलित है कि गरीब। दलित साहित्य दलित समाज को दलित होने की हीनता बोध से मुक्त करके जातीय अस्मिता के साथ जीवन जीने के प्रेरणा देता है। यानी वह ट्रेजड़ी का ही साहित्य नहीं है बल्कि ट्रेजडी उन्मूल्तान का भी साहित्य

---

[1] हंस अगस्त 2001, पृ. 4

[2] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ.7

है। ऐस में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि दलित साहित्य को विभाजित कर रहा है। उनके साहित्यिक 'वसुधैव कुटुम्बकम' को तोड़ा जा रहा है। एकदम बेमानी साबित हो रहा है। कंवल भारती के शब्दों में, *"जो लोग जाति के आधार पर साहित्य विभाजन के पक्ष में नहीं हैं वे जाती आधारित सामाजिक विभाजन को भूल जाते हैं कि जीवन व्यापार में जाति कितनी अहम भूमिका निभाती है। अंतरजातीय प्रेम संबंधों में पंचायतों की क्रूर सजाएँ जाति के हस्तक्षेप को ही प्रमाणित करती हैं। जब जाति का समाजशास्त्र इतना कटु है तो वह साहित्य का सत्य क्यों नहीं बन सकता।"*[1]

अतएव जिन विद्वानों ने यह माना कि दलित साहित्य साहित्य को विभाजित कर रहा है, या साहित्य किसी की बपौती नहीं है। तो उन्हें यह देख लेना चाहिए कि उनके द्वारा रचित साहित्य में दलितों की व्यथा, चेतना उनके साहित्य में मौजूद है या नहीं, वैसे अपने विचार रखने की स्वतंत्रता संविधान ने सबको दे रखी है। दलित साहित्य मुख्यत: उन वर्गों की बात करता है जिनका अस्तित्व वर्णवादी समाज में कलंकित है ऐसे कलंकित वर्गों में तीन वर्गों (जयराम पेशेवर कबीले, आदिम जातियां, अछूत) की चर्चा करते हैं।

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, *"इन वर्गों का अस्तित्व एक कलंक है इन सामाजिक सृष्टियों के संदर्भ में यदि हिंदू समाज को मापा जाय तो इसे कोई सभ्य समाज नहीं कह सकता, मानवता का उत्पीड़न और दमन करने के लिए इसका यह एक पैशाचिक धूर्तता है, नाम उसका तो कलंक होना चाहिए, उस सभ्यता को और क्या नाम दिया जाये जिसने ऐसे समाज को जन्म दिया हो जिसे अपने भरण-पोषण करने के लिए अपराध की मान्यता प्राप्त हो, एक अन्य वर्ग को सभ्यता के नाम पर आदिकाल से ही बर्बरतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया हो और तीसरा वह जनसमूह है जिसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता हो जिनका छूने भर से अपवित्रता का दोष लग जाये।"*[2]

वर्णव्यवस्था के कुचक्र में इंसान को इंसान नहीं समझा गया, जाति के आधार पर मनुष्य का अवमूल्यन करना सबसे बड़ी हत्या है। तलवार से यदि हम किसी की

---

[1] कंवल भारती: दलित साहित्य की अवधारणा, पृ. 13

[2] डॉ. भीमराव अम्बेडकर: सम्पूर्ण वाड्मय खण्ड 14, पृ.10

हत्या करते हैं तो कवेल देह की हत्या होती है, लेकिन यदि हम जाति पूछकर किसी का मूल्यांकन करते हैं तो उसकी आत्मा की हत्या होती है, उसके व्यक्तित्व की हत्या होती है।

दलित साहित्य दलितों के प्रति हुए सामाजिक विषमताओं को तो दर्शाता है। परंतु उसी सामाजिक विषमताओं के आधार पर जो आर्थिक विषमतायें पनपी है, उन्हें भी दलित साहित्य केन्द्रीय विषय के रूप में लेता है। गरीबी मानव जीवन का सबसे बड़ा दुख है। जिसमें व्यक्ति मानव जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता, परिणामस्वरूप वह शोषण और अन्याय का शिकार होता है। यह गरीबी तब और दुखद होती है, जब वह मानव निर्मित होती है। हांलाकि गरीबी अकसर मानव निर्मित ही होती है, परंतु जब वह जन्म से निर्धारित हो जाय तो असहय हो जाती है। दलित सामाज अपनी मूलभूत आवश्यकताओं- रोटी, कपड़ा मकान को जुटाने में परेशान है जिसके अभाव में उनके सारे के सारे मानवीय व्यवहार उनसे छिन गये। पूरी जनसंख्या में लगभग 30 प्रतिशत जनसंख्या भुखमरी की शिकार है, उनमें अधिकांश संख्या दलितों की है। वैसे भी दलित साहित्य में अभी तक जितने भी लेखकों ने आत्मकथा लिखी है, इससे पता चलता है कि वे सभी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रह चुके हैं। चाहे वे ओमप्रकाश बाल्मीकि हो या सूरजपाल चौहान या फिर कौशल्या बैसन्त्री आदि। दलित चाहे गांव में रहें या शहर में उन्हें अपनी जीविका चलाने हेतु एक ही जैसा काम मिलता है, यानि बाजार की सफाई करना, मुर्दा मवेशी के चमड़े उतारना, मैला साफ करना आदि ऐसे कई दृश्य कहानियों, आत्मकथाओं में हृदय विदारक बन पड़े हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा भूख से संघर्ष करते व्यक्ति की आत्मकथा है- *"शादी व्याह के मौको पर जब मेहमान या बराती खाना खा रहे होते थे तो चूहड़े दरवाजे के बाहर बड़े-बड़े टोकरे लेकर बैठ जाते थे। बारात के खाना खा चुकने पर जूठी पत्तलों उनके टोकरे में डाल दी जाती थी जिन्हें घर ले जाकर वे जूठन इकट्ठी कर लेते थे, पूरी के बचे-खुचे टुकड़े या थोड़ी बहुत सब्जी पाकर बांछे खिल जाती थी जिस बारात के पत्तलों से जूठन कम उतरती थी तो कहा जाता कि भूक्खड़ लोग आ गये हैं....अकसर ऐसे मौकों पर बड़े-बूढ़े ऐसी बारात का जिक्र बहुत ही रोमांचक लहजे में सुनाया करते थे कि उस बारात में इतनी जूठन आयी थी कि लोग महीनों तक खाते रहे थे"* वे आगे लिखते हैं- *"पत्तलों से जो पूरियों के टुकड़े एकत्र होते थे उन्हें धूप*

*में सुखा लिया जाता था, चारपाई पर कोई कपड़ा डालकर फैला दिया जाता था, अकसर मुझे पहरे पर बैठाया जाता था क्योंकि सूखने वाली पूरियों पर कव्वे, मुर्गियां, कुत्ते अकसर टूट पड़ते थे। जरा सी आंख लगी कि पूरियां साफ। ये पूरियां बरसात के कठिन दिनों बहुत काम आती थी। इन्हें भिगोकर उबाल लिया जाता था। उबली हुई पूरियों पर बारीक मिर्च और नमक डालकर खाने में बड़ा मजा आता था जिसे सभी बड़े चाव से खाते थे।'"*

भोजन के लिए इतना संघर्ष कभी-कभी अकाल पीड़ितों को करना पड़ता है, परंतु दलितों के जीवन में भोजन का यह अकाल हमेशा बना रहता है। ओमप्रकाश बाल्मीकि का यह विवरण पढ़कर मन में दो तरह की प्रतिक्रियाएँ उभरती हैं। एक यह कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य द्वारा फेंकी गई निकृष्ट वस्तु को पाकर इतना खुश है कि उसके लिए यह किसी उत्सव से कम नहीं है, यह उत्सव समाज पर व्यंग्य करता है। और दूसरी यह कि उसका सारा जीवन रोटी जुटाने में ही खप जाता है। भूख के अलावा और किसी भी प्रकार की जरूरत को दलितों में उभरने नहीं दिया गया। श्रम और भूख, भूख तथा श्रम। यहीं तक दलितों की जीवन यात्रा को सीमित कर दिया गया।

यह देखकर कहा जा सकता है कि जब दलित वर्ग खाने को लेकर इतनी दयनीय स्थिति में है तो रहने और पहनने को लेकर कितनी किल्लत झेलता होगा, इसका अनुमान स्वत: ही किया जा सकता है। कहने को तो भारत सूती वस्त्रों का निर्यातक देश है, परंतु यहां की अधिकांश जनता को तन ढकने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है, यह हम कौसल्या वैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में देख सकते हैं-

*"बाबा (पिता) को मिल के मशीन को साफ करने के लिए कुछ पट्टियां मिलती थी बाबा उनमें से अच्छी लम्बी पट्टियाँ अलग कर अपनी धोती के नीचे लंगोट की तरह बांधकर लाते थे, कभी किसी को शक नहीं हुआ उनमें से कुछ सफेद पट्टियों को अलग करके हम पेटीकोट और चड्डियां हाथ से सीते थे..बहुत दिनों तक हम उन पट्टियों को जोड़कर पेटीकोट, ब्लाउज पहनते थे* यह तो हुई तन ढकने की बात, ओढ़ने-बिछाने

---

[1] ओम प्रकाश वाल्मीकि: जूठन, पृ. 19-20

*हेतु पूरी बस्ती में किसी के घर गद्दा, रजाई, कंबल न थे सब गोदड़ियों का ही इस्तेमाल करते थे।"*[1]

मनुष्य की तीसरी मूलभूत आवश्यकता है- मकान, कपड़े और भोजन की आवश्यकता दलित समाज पूरा ही नहीं कर पा रहा है, तो मकान की आवश्यकता कहाँ से पूरी कर पायेगा। मकान की विकट समस्या के बारे में ओमप्रकाश बाल्मीकि अपनी आत्मकथा 'जूठन' में लिखते हैं- *"1962 के साल मे खूब बारिश हुई थी बस्ती में सभी के घर कच्ची मिट्टी के बने थे, कई दिन की लगातार बारिश ने मिट्टी के घरों पर कहर बरवा दिया था, हमारा घर जगह-जगह से टपकने लगा था, जहाँ टपकता, वहीं थाली बर्तन रख देतें, बर्तन में टन-टन की आवाजें आने लगी थी। ऐसी रातें जाग-जाग कर काटनी पड़ती थी। हर वक्त एक डर सा बना रहता था, कब कोई दीवार धसक जाए। उस रात हमारी बैठक का एक हिस्सा गिर गया था लोगों के चीखने-चिल्लाने की आवाजें आ रही थीं।"*[2]

वैसे तो अभिजात्यवर्गीय साहित्य में बारिश के मौसम पर कई किताबें लिखी जा चुकी हैं एवं वह माना जाता रहा है कि बारिश का मौसम प्रेम का मौसम है, परंतु यहाँ अलग ही सच्चाई है, दलितों के लिए वह मौसम प्रेम का नहीं, वरन सुख-चैन छीनने एवं नींद हराम करने का मौसम है।

इस प्रकार दलित साहित्य ऐसे वर्ग का साहित्य है जो हमेशा से ही समाज के हाशिये पर रहा है, जिसे धर्म, संस्कृति में कभी शामिल नहीं किया गया और राजनीति में कभी-कभी शामिल भी किया गया तो उसके पीछे अभिजात्य वर्ग का ही भला हुआ। अभिजात्य वर्गीय साहित्य जहाँ रस, छंद, अलंकार का वर्णन करता है वहीं दलित साहित्य का वर्णन अनुभूति के धरातल पर होता है। अतएव हिंदी साहित्य जो सच बयान करता है उससे अलग सच दलित साहित्य में देखा जा सकता है।

## ( ख ) दलित साहित्य की वैचारिकी

---

[1] कौसल्या वैसंत्री: दोहरा अभिशाप, पृ. 54

[2] ओमप्रकाश वाल्मीकि: जूठन, पृ. 18, 19

दलित साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि आरंभ से विद्यमान है। इसका उदय वेद और वर्णव्यवस्था के साथ ही प्रतिरोधात्मक रूप में हुआ। यह शुरू से ही वेद और वर्णव्यवस्था विरोधी रहा है। इस वैचाारिकी के विकासक्रम को तीन चरणों में देखा जा सकता है-

(i) आदिकाल की दलित वैचारिकी

(ii) मध्यकाल की दलित वैचारिकी

(iii) आधुनिक काल की दलित वैचारिकी

सर्वप्रथम आदिकाल की दलित वैचारिकी को देखें तो इसकी शुरूआत पहले भौतिकवादी दर्शन चार्वाक दर्शन से माना जा सकता है। चार्वाक दर्शन में पहली बार वेद निंदा, ब्राह्मणों के कर्मकांडों, यज्ञादि की निंदा की गयी और ईश्वर की सत्ता में विश्वास एवं वर्ण व्यवस्था को नकारा गया है। चार्वाक का मूल दर्शन है-

*यावन्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः* [1]

*भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः*

यानि जब तक जीवन रहे सुख से जीना चाहिए क्योकि ऐसा कोई भी नहीं है, जिसके पाास मृत्यु न जा सके। जब शरीर एक बार जल जाता है, तब इसका पुनः आगमन कैसे हो सकता है। चार्वाक ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को मुख्यतत्व माना है। उसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ ही सत्य है। चार्वाक का दूसरा नाम 'लोकायत' है जिसका अर्थ है- संसार में व्याप्त। कंवल भारती के शब्दों में- *"लोकायत जनता का धर्म था- वर्णव्यवस्था से पीड़ित जनता का धर्म। दलित विमर्श की परंपरा का उससे गहरा संबंध हो सकता है। उसने एक ऐसी विचार परंपरा को जन्म दिया जो वेद और वर्णव्यवस्था विरोधी थी। यह परंपरा बाद में बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल के संतों तक पहुँची।"* [2] चार्वाक दर्शन अपने तर्क और प्रत्यक्ष अनुभूतियों के नाते स्वर्ग, नरक, आत्मा-परमात्मा, वर्णाश्रम आदि में विश्वास नहीं करता। वह मानता है कि वेदादि,

---

[1] डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि': सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 3

[2] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 102

कर्मकाण्डों एवं यज्ञों में होने वाले दान को ब्राह्मणों ने अपने स्वार्थ के लिए बनाया है। यह सब ब्राह्मणों की जीविका का साधन है-

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदडं भस्मगुण्ठनम

वुद्धि पौरूष हीननां जीविका धातृनिर्मिता: [1]

अर्थात् अग्निहोत्र (अग्नि में होने वाले सभी स्रोत) तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाकर, संध्यावंदन, देवपूजा जयादि करना बुद्धि और पुरूषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन है। जिनके पाास बुद्धि है वे तरह-तरह के उपाय करके जीविका पाते हैं, पुरूषार्थवाले पराक्रम दिखाकर जीवन यापन करते हैं। परंतु जिनके पास ये दोनें चीजें नहीं हैं, वे जीविका का दूसरा साधन न देखकर सभी जीवों को कर्म के बंधन में पड़ा हुआ बताकर उनसे मनमाना धन ऐंठते हैं। चार्वाक दर्शन में हिंदू धर्म में मृत्यु हो जाने के बाद दिये जाने वाले 'श्राद्धकर्म' पर व्यंग्य किया गया है।

भौतिवादी दर्शन चार्वाक दर्शन में जीवन को मूल माना गया है। जन्म से पहले और मृत्यु की बाद की स्थिति को नकार दिया है। उनका मानना था कि जीवन में सब कुछ वर्तमान है। इसलिए जीवन को सफल बनाना चाहिए। जीवन के बाद की स्थिति पर विचार करना एवं कर्मकांड सब ढकोसला है।

महात्मा बुद्ध ने भी वैदिक मान्यताओं का खण्डन किया और उसकी जगह पर आष्टांगिक मार्ग के आधार पर व्यक्ति के निर्वाण प्राप्त करने का दर्शन दिया। बौद्ध धर्म एक उच्चस्तरीय नीतिशास्त्र की शिक्षा प्रदान करता है। वर्णव्यवस्था पर विरोध करते हुए बुद्ध ने साफ शब्दों में कहा था-

*''न जच्चा बसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो*

*कम्मना वसलो होति, कम्मना होति ब्राह्मणो''* [2]

अर्थात् जन्म से न कोई शूद्र होता है न जन्म से कोई ब्राह्मण। कर्म से ही शूद्र होता और कर्म से ही ब्राह्मण।

---

[1] डॉ. उमा शंकर शर्मा 'ऋषि': सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 19

[2] हंस, अगस्त 2004, पृ. 58

वैदिक दर्शन मूलतः अंधविश्वासी मान्यताओं, कर्मकांडों एवं आत्मा-परमात्मा की अवधारणाओं पर आधारित था जिसे गौतम बुद्ध झूठी विद्या मानते थे। यही कारण था जिसके चलते उन्होंने अपने अनेक उपदेशों में झूठी विद्याओं को पढ़ने-पढ़ाने, सुनने-सुनाने के विरूद्ध नारा बुलंद किया था। इसी तरह बौद्ध उपदेशों के लिए निर्धारित नियमग्रंथ विनय पिटक में कई स्थानों पर देखे जा सकते हैं। बुद्ध हमेशा संगत तर्कणा में विश्वास करते थे। वे भिक्षुओं से कहा करते थे कि किसी बात को इसलिए नहीं मानना चाहिए कि वह किसी धर्मग्रंथ में लिखी हुई है या परंपरा से प्रचलित है, बल्कि उसे तर्क की कसौटी पर भी परखना चाहिए। यदि सत्य खरा उतरे तो उसे मानना चाहिए, अन्यथा नहीं। वर्णव्यवस्था पर आधारित वैदिक धर्म को बुद्ध ने जड़ से हिला दिया।

वर्ण व्यवस्था विरोध को बुद्ध ने सबसे पहले अपने भिक्षु संघ में लागू किया तथा सुनीत एवं प्रकृति जैसे अनेक दलित भिक्षु-भिक्षुणियों को संघ से शामिल किया। वे हर जाति से भिक्षा ग्रहण करते थे तथा उन्होंने भिक्षुओं को स्पष्ट नियमबद्ध निर्देश दिया था कि गांवों में वे जाति के आधार पर किसी घर को छोड़कर भिक्षा न मांगे बल्कि बिना भेदभाव के लगातार स्थित घरों से भिक्षा ग्रहण करें। अंगुत्तर निकाय में एक स्थान पर भिक्षुओं से कहा गया है कि जिस तरह गंगा, यमुना माही आदि नदियों समुद्र में मिलते ही अपने नाम औरअस्तित्व को खो बैठती है, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बौद्ध संघ में आने के बाद अपने जाति वर्ग गोत्र आदि को सदा के लिए खो देते हैं।

शुरू के दिनों में बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए नियम बनाया था कि वे सब भिक्षुओं के सामने झुककर उनका अभिवादन करेंगी। यहाँ डॉ. तुलसी राम ने लिखा है - *"इस पर कई विचारक बुद्ध पर आरोप लगाते हैं कि वे स्त्रियों को हीन समझते थे। किंतु वास्तविकता यह थी कि जब शुरूआती दिनों में बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में सर्वप्रथम शामिल करने की आज्ञा दी। तब मूलतः राज-घरानों से ही भिक्षुणियाँ आती थी। जो पुरानी अवधारणाओं के अनुसार उच्चकुल की हुआ करती थीं, जबकि भिक्षुओं में अनेक शूद्र हुअ करते थे, इसलिए बुद्ध ने जातीय अभिमान को तोड़ने के उद्देश्य से भिक्षुणिओं के लिए नियम बनाय गया था कि वे भिक्षुओं के सामने झुकें।"* [1] बुद्ध द्वारा वर्णव्यवस्था का

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 59

विरोध उस समय एक सशक्त सामाजिक आंदोलन का रूप ले लिया था। यह एक क्रांतिकारी व्यवस्था थी जो वैदिक धर्म से दूर किये लोगों के लिए रास्ता प्रशस्त किया। बाद में जाकर सिद्धों नाथों ने भी हिंदू धर्म में व्याप्त आडम्बर और जाति व्यवस्था पर चोट को और निर्गुण भक्त कवियों की रचनाओं में भी पाया जा सकता है।

मध्यकाल में बौद्ध धर्म का प्रभाव सिद्धों, नाथों से होते हुए,- "*भक्तिकाल के निर्गुण सम्प्रदायों के दार्शनिक विकास में ही नहीं, अपितु उसके बाद की अवैदिक और अनार्थ चिंतन धारा में भी बुद्ध के विवेकावाद का प्रभाव हमें दलित संतों तक मिलता है।*"[1] भक्तिकालीन निर्गुण भक्त कवियों में कबीर महत्वपूर्ण है। कबीर ने अपने समकालीन हिंदू-मुस्लिम दोनों धर्म की कुरीतियों पर चोट की। जहाँ हिंदू धर्म में व्याप्त वर्णव्यवस्था, जातिवाद, छुआछूत, और धार्मिक परंपराओं का खंडन किया है, वही मुस्लिम धर्म के कर्मकांडों का विरोध भी किया है। वे लिखते हैं-

*''जो तू बाभन- बाभनी जाया*
*आन बाट हौ क्यू नहीं आया।*
*जो तू तुरक- तुरकिनी जायाा।*
*भीतर खतना क्यों न कराया''*[2]

दलित संतों के युग को विद्रोह का युग भी माना जा सकता है। उन्होंने उन तमाम अध्यात्मिक मूल्यों में विद्रोह किया, जो मनुष्य- मनुष्य के बीच भेद करते थे। वे सामाजिक समता के साथ-साथ आर्थिक समता भी चाहते थे। रैदास ने लिखा है-

*''बाभन को मत पूजिए जो हो गुन से हीन।*
*पूजिए चरन चाण्डाल के, जो गुन ज्ञान प्रवीन।।*
*ऐसा चाहो राज मैं, जहाँ मिलै बसन को अन्न।*
*छोट-बड़ों सब सम बसै, रैदास रहे प्रसन्न''।।*[3]

---

[1] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 102

[2] हजारी प्रसाद द्विवेदी: कबीर, पृ. 223

[3] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 104

इस तरह उस समय हिन्दी ही नहीं बल्कि भारत के अन्य भाषओं में भी हिन्दू धर्म के कर्मकांड एवं जाति व्यवस्था पर चोट किया गया। हिंदू धर्म में निहित जाति एवं कर्मकांड को लेकर समय-समय पर इसके विरोध में बराबर स्वर उठते रहे हैं।

आधुनिक काल में दलित साहित्य की वैचारिकी को बढ़ावा देने का कार्य सबसे पहले ज्योतिबा फूले (1827.1890) ने किया। वास्तव में अगर आधुनिक भारत के जनक के रूप में किसी को सम्मानित किया जा सकता है तो वह व्यक्ति महात्मा फूले ही हो सकते हैं। भारत में किसान-मजदूर, दलित स्त्री की मुकम्मल आजादी के लिए एक मजबूत वैचारिक और सामाजिक आंदोलोन खड़ा करने वाले वे पहले व्यक्ति थे। उन्होंने समाज-व्यवस्था, धर्म-संस्कृति, शिक्षा का महत्व और सत्ता का उससे संबंध, अर्थ और कृषि व्यवस्था में उत्पादन संबंध, दलित स्त्रियों की एक सी दयनीय स्थिति आदि अपने समय के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर व्यवस्थित और मौलिक विचार किये। उन्होंने अपनी पुस्तक 'गुलामगीरी' में दलितों को चेतावनी देते हुए लिखा है कि- "*हजारो सालों से जब से इस देश में ब्राह्मणों की सत्ता कायम हुई है, तब से शूद्र अतिशूद्र समाज के लोग जुल्म और शोषण के शिकार रहे हैं। ये लोग हर यातनाओं और कठिनाईयों में जी रहे हैं। लेकिन इन लोगों को अब इन बातों की ओर ध्यान देना चाहिए और इस विषय में पूरी गंभीरता से सोचना चाहिए कि ये लोग ब्राह्मण, पण्डा, पुरोहितों को जुल्म और ज्यादातियों से कैसे मुक्त हो सकते हैं। यही हमारे लिए सबसे महत्वपूर्ण सवाल है।*" [1] इन्होंने इन सवालों से टकराने का सुझाव ही नहीं दिया वरन् दलितों के अधिकारों को जागृत करने के लिए काम भी किया है। जो निम्नलिखित हैं।

1. उन्होंने सन् 1848 में पहली कन्याशाला खोली और सन् 1851 में अछूतों के लिए पाठशाला खोली।
2. अपना कुंआ अछूतों के लिए खोल दिया।
3. विधवा विवाह का समर्थन कर 1864 में विधवा विवाह सम्पन्न कराया।
4. विधवाओं के अवैध बच्चों के लालन-पालन के लिए सन 1863 में बालहत्या प्रतिबंधक गृह खोला।

---

[1] ज्योतिबा फूले: गुलामगीरी, पृ. 5

5. ब्राह्मण विधवाओं के मुंडन को रोकने के लिए नाइयों को संगठित किया
6. बाल-विवाह का विरोध किया
7. धर्ममूलक विषमता का उन्मूलन करने के उद्देश्य से 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की नींव डाली।
8. शादी-विवाह में, समझ न आने वाले मंत्रों के बदले मराठी में सर्वबोधगम्य मंगल मंत्र बनाए और उनका प्रचार किया।
9. रायगढ़ स्थित शिवाजी महाराज की समाधि खोजकर उसे सुचारू रूप प्रदान किया।
10. सन् 1879 में बम्बई में मिल-मजदूरों का पहला संगठन बनाया और मजदूर आंदोलन में श्री नारायण मेधा जी लोखंडे नामक अपने साथी की विशेष रूप से सहायता की।
11. किसानों की दुर्दशा की ओर 'ड्यूक आफ कनाट' अर्थात् भारतीय राष्ट्रीय का ध्यान दिलाया।
12. ग्रंथ लिखकर शूद्रों तथा अतिशूद्रों में जागृति की और उन्हें वरिष्ठ वर्गों की मानसिक दासता से मुक्त करने का प्रयास किया।
13. अपनी पत्नी को घर पर पढ़ा- लिखाकार उसे अध्यापिका बनने योग्य बनाया, सावित्री फूले पहली भारतीय अध्यापिका थीं।

यह सब कार्य उन्होंने उस समय किया जब इनके बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था। दलितों एवं स्त्रियों की मुक्ति के लिए इन्होंने एक साथ संघर्ष किया। 1855 में महात्मा फुले ने 'तृतीय रत्न' (तीसरी आंख) नामक नाटक लिखा है जिसमें शिक्षा के माध्यम से तमाम शूद्र अतिशूद्र जातियों को वर्गीय रूप से संगठित होने का संदेश था। 'गुलामगीरी' में वे लिखते हैं कि *"शूद्रों को ब्रह्म राक्षसों की गुलामी से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के उन सभी धर्म ग्रंथों का निषेध करना होगा जिनमें हमारी गुलामी का समर्थन है।"*[1] इसी संबंध में उनकी एक कविता प्रस्तुत है-

*''मनु जलकर खाक हो गया जब अंग्रेज आया।*
*ज्ञानरूपी मां ने हमको दूध पिलाया।।*
*अब तो तुम भी पीछे न हो।*

---

[1] ज्योतिबा फूले: गुलामगीरी, पृ. 5

*भाइयों, पूरी तरह जलाकर खाक कर दो मनुवाद को।।*

*हम शिक्षा पाते ही पाएंगे सुख।*

*पढ़लो मेरा लेख जाति कहे।।'"*[1]

यहाँ पर कंवल भारती लिखते हैं-

*"ज्योतिबा फूले की रचनाएं आज एक शताब्दी बाद भी ताजा और प्रासंगिक लगती है। सवांद-शैली और नाटक विद्या में उनकी रचनाएं उनकी साहित्यिक प्रक्रिया का अद्वितीय प्रमाण है। 'अखंड' काव्य रचनाओं में वे 'कह कबीर'.....जोति कहे' की छाप लगाते थे उनकी काव्य रचनाओं में विचारोत्तेजक दलित विमर्श है।"*[2]

सन् 1873 में ज्योतिबा फूले द्वारा स्थापित 'सत्यशोधक समाज' ब्राह्मण वर्चस्व और उच्च जातियों द्वारा समाज की निम्न जातियों के बौद्धिक समाज की निम्न जातियों के बौद्धिक शोषण तथा सामाजिक, सांस्कृतिक उत्पीड़न और अन्याय के विरूद्ध प्रतीकात्मक रूप में एक जन-आंदोलन बनकर सामने आया। इसे हम एक नई सांस्कृतिक क्रांति दे सकते हैं। इसके उद्देश्य बहुत सरल और स्पष्ट भाषा में मर्म को छूने वाले थे। यह अपने ढंग का मौलिक सामाजिक संगठन था और ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि से सर्वथा भिन्न इसकी कार्य शैली थी। 'सर्वधर्म समभाव' के पोषक और मानवता के पक्षधर सत्यशोधक समाज में धार्मिक पाखंडों का खंडन किया गया। शूद्र और निम्न जातियों ने ब्राह्मणों से आपने मंगल उत्सवों मुहूर्त और विवाह की तिथियां निकलवाना बंद कर दिया था। महाराष्ट्र में इससे पहले इतने क्रांतिकारी और प्रगतिशील समाज सुधार का कार्य कोई व्यक्ति या संस्था नहीं कर पाई थी। पुणे में दलित शिक्षा के प्रसार से अछूतों में सत्यशोधक समाज के प्रति विशेष उत्साह था।

नि:संदेह, फूले एक ऐसे दलित आंदोलन, दलित क्रांति के सूत्रधार थे जिसकी वजह से दलितों में शिक्षा और जीवन के प्रति अनुराग जागृत हुआ। उनमें जातीय एकता और स्वाभिमान के भाव प्रस्तुत हुए। सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना जागी। हिंदुओं के धर्म ग्रंथों और पंडितों द्वारा फैलाये गये अंधविश्वासों के विरूद्ध संघर्ष करने का संकल्प पैदा

---

[1] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 106

[2] वहीं, पृ. 106

हुआ। सदियों से जारी आर्थिक शोषण और सामाजिक बहिष्कार से लड़ने के लिए उनमें हिम्मत आई। अतएव महत्मा फूले की वैचारिकी दलित मुक्ति का मार्ग प्रशक्त करने के साथ-साथ दलित आंदोलन को भी नई दिशा प्रदान की।

महात्मा फूले के बाद दलित साहित्य में डा. भीमराव अम्बेडकर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दलित साहित्य की वैचारिकी 'अम्बेडकर वैचारिकी' के नाम से जाना जाता है। डा. अम्बेडकर के चिंतन का आना समतामूलक समाज की स्थापना में एक महत्वपूर्ण घटना है। उन्होंने न केवल सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों कीबात की, बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में भी दलितों की भूमिका निश्चित करने का प्रयास किया। डा. अम्बेडकर ने राष्ट्रवाद को अपने ढंग से परिभाषित करते हुए लिखा है - *"राष्ट्रवाद तभी औचित्य ग्रहण कर सकता है। जब लोगों के बीच जाति, नस्ल या रंग का अंतर भुलाकर उसमें सामाजिक भ्रात्त्व को सर्वोच्च स्थान दिया जाए।"* [1] इस तरह अम्बेडकर ने साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर एक दर्शन की नींव डाली। यहीं दर्शन आगे चलकर बाद में जाकर दलित आंदोलन एवं दलित साहित्य का आधार साबित हुआ।

दलित मुक्ति का कार्य पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहे। इसके लिए डॉ. अम्बेडकर चाहते थे कि दलित समाज किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर रहने के बजाय अपनी मुक्ति के लिए स्वयं प्रयास करे। दलित वर्ग से वह अपेक्षा करते थे कि वह अपनी शैक्षिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राजनैतिक उत्थान स्वयं करें।

आदिकाल से लेकर फूले तक ही दलित वैचारिकी में निस्संदेह हिंदू व्यवस्था के विरूद्ध प्रतिरोध का स्वर विद्यमान है। परंतु डा. अम्बेडकर के विचारों और आंदोलनों की विशेषता यह है कि इसने हिंदू व्यवस्था के विरूद्ध सीधी कार्यवाही के रूप में खुला विद्रोह किया। यह परिवर्तन 1920 के आस-पास शुरू हुआ। 1920 में अम्बेडकर ने 'मूकनायक' पत्रिका का प्रकाशन किया था। मैं ही जातिवादी भेदभाव को स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया कि, *"हिन्दी समाज एक बहुमंजिली इमारत की तरह है। जिसमें प्रत्येक जाति इस मीनार का एक एक मंजिल है। ध्यान देने की बात है कि इस मीनार में बाहर निकलने की सीढ़ियां*

---

[1] ज्योतिबा फूले: गुलामगीरी, पृ. 17

*नहीं है। जो जिस तल में जन्म लेता है, उसी तल में मरता है।"* [1] जातिभेद पर कायम समाज व्यवस्था को तोड़ने में इस विषमतामूलक प्रथा से निम्न जाति के लोगों की अपेक्षा ऊपर की जातियों के प्रतिबद्ध व समाज के प्रति जिम्मेदार लोग जातिप्रथा के उन्मूलन के लिए आगे आये। तब उनका अनुकरण करने वाली नीचे की जातियाँ भी अपने भीतर के जाति भेद को तोड़ेगी और तब सामाजिक दृष्टि से समतामूलक समाज संरचना की शुरूआत समरसता के वातावरण में होगी। 1920 में कोल्हापुर के साहू महराज की पहल पर नागपुर में "अखिर भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद्" संपन्न हुई थी। इसमें डा. अम्बेडकर ने जो महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये उनमें यही जातीय प्रश्न मुख्य था *"जातिभेद तोड़ने के लिए वरिष्ठ जाति वालों को जोरदार प्रयत्न करने चाहिए। जापान में जातिभेद का उन्मूलन करने के लिए उच्चवर्गीयों लोगों ने ही शुरूआत की। उसी तरह कथित उच्च जाति वालों को भी निजी स्वार्थ त्यागकर पूरे दलित वर्ग को ऊपर उठाने का प्रयास करने चाहिए।"* [2] उन्होंने जाति को समूल नष्ट करने के लिए सहभोजन और अन्तर्जातीय विवाहों का सुझाव देते हैं- 1927 में जब वह मराठी समाचार पल 'बहिष्कृत भारत' का संपादन कर रहे थे। उन्होंने लिखा था- *"केवल रोटी बंदी समाप्त करने से जातिभेद का उन्मूलन नहीं होता क्योंकि रोटी व्यवहार शुरू होकर भी बेटी व्यवहार का भेद तो बच ही रहता है। उसे समूल नष्ट करना चाहिए। जाति भेद की बुनियाद बेटी बंद पर है रोटी बंद पर नहीं।"*[3]

डा. अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव दलित समाज गहरा पड़ा। उन्हें वह अनुभव होने लगा था कि अपीलें और प्रतिरोध हिंदू व्यवस्था को बदल नहीं सकते, क्योंकि हिंदुओं के दिलों में उनका असर नहीं होता था। सरकार ने सभी सार्वजनिक सुविधाएँ और संख्याएँ दलितों के लिए खोलने की घोषणा कर दी थी, परंतु हिंदुओं के विरोध के कारण दलित उनका उपयोग नहीं कर पा रहे थे। उदाहरणस्वरूप, 1923 में बंबई की विधान परिषद ने यह प्रस्ताव पारित किया था कि अदूत वर्गों को सभी सार्वजनिक सुविधाओं जैसे तालाब, कुओं, धर्मशालाओं आदि का उपयोग करने की छूट दी जाती है। परंतु हिंदुओं ने इसका पालन नहीं किया। बाद में अम्बेडर के नेतृत्व में ही अछूतों का सम्मेलन हुआ जिसमें

---

[1] हम दलित (मासिक) सितंबर 1993, पृ. 20

[2] मूकनायक 5 जून 1920, पृ.5

[3] बहिष्कृत भारत 1 जुलाई, 1920, पृ. 7

लगभग ढाई हजार अछूतों ने 20 मार्च 1927 को महाड़ स्थित चावदार तालाब में पानी पिया। इस अवसर का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है- "*नगर के हिंदुओं ने यह दृश्य देखा, वे अवाक् रह गए। चार-चार की कतार से जुलूस चलता रहा। वह चावदार तालाब पर पहुँचा। अछूतों ने पहली बार वहां पानी दिया। शीघ्र ही उन्होंने अनुभव किया कि यह सब क्या हो गया। उन पर पागलपन सवार हो गया और उन्होंने उन अछूतों पर जी भर कर जुल्म ढ़ाए जिन्होंने पानी को भ्रष्ट करने का दुस्साहस किया था।*"[1] इसके बाद 25 दिसंबर 1927 को मनुस्मृति दहन की घटना सामाजिक क्रांति की दिशा में अनोखी घटना थी। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया था, परंतु यह ग्रंथ लोगों में भेदभाव पैदा करने वाला था। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में- *मनुस्मृति अस्पृश्यों की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक दासता को जिंदा रखती है। मनुस्मृति ने हिंदुओं का सिर लज्जा से झुका दिया है।*"[2] दलितों में कालाराम मंदिर में प्रवेश के समय डा. अम्बेडकर ने अपने आंदोलन के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार- "*मंदिर प्रवेश से हमारा प्रश्न सुलझने वाला नहीं है। हमारी समस्या का स्वरूप व्यापक है। ये राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक स्वरूप की समस्याएँ हैं। लेकिन आज का हमारा कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह उच्चवर्णीय हिंदुओं के लिए एक आहवान है। हिंदू इंसान को इंसान का दर्जा देंगे या नहीं? हम उच्चवर्णीय हिंदुओं की परीक्षा ले रहे हैं। हमें पता है कि मंदिर में पत्थर का भगवान है। उसके दर्शन या उसकी पूजा से हमारी समस्या का हल निकलने वाला नहीं, हमें ये जानते हैं। हमारा आज का सत्याग्रह हिंदुओं में मानसिक परिवर्तन लाने का एक प्रयत्न है।*"[3]

परंतु जब इस आवाहन में उत्तर भारतीय दलितों ने शामिल होकर मंदिर में प्रवेश करने का निश्चय किया तो सवर्णों ने उन पर सामूहिक हमला कर मंदिर के दरवाजे कठोरता से बंद कर दिये गये। डा. अम्बेडकर ने सवर्णों के इस रवैये से क्षुब्ध होकर इस आंदोलन को समाप्त कर दलितों के शैक्षिक, राजनीतिक दिशा में अग्रसर होना महत्वपूर्ण समझा।

TH-17830

[1] आर.चन्द्रा कन्हैया लाल चंचरीक: आधुनिक भारत का दलित आंदोलन, पृ.146

[2] वहीं, पृ. 146

[3] मधु लिमये: डा. अम्बेडकर एक चिंतन पृ. 46-47

दलितों को भारत के नागरिक होने के बावजूद कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकारों से वंचित रखा गया था। अंग्रेजों के शासन में भी जाति व्यवस्था और ब्राह्मणवाद का जो प्रभाव वहाँ सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर हाथी था, उनकी यह एक मिसाल है। डा. अम्बेडकर ने इन दो महत्वपूर्ण प्रश्नों की ओर सूचियों में संविष्ट करना और दूसरा निर्वाचक मंडल की मांग। इस पर वे गंभीरता से विचार कर रहे थे कि दलितों को मताधिकार कैसे मिले । तब मतदान सिद्धांत के अनुसार मतदाता के पास मकान या जमीन का स्वामित्व होना चाहिए। आमदनी का ऊंचा स्तर अथवा शैक्षिक योग्यता का होना आवययक था, जिसका किसी भी दलित के पास होना नामुमकिन था। डा. अम्बेडकर ने दलितों को वयस्क मताधिकार मिले। प्रथम गोलेमेज सम्मेलन में दलितों के नेता के रूप में शामिल हुए। उन्होंने पृथक निर्वाचक मंडल और प्रतिनिधित्व की मांग रखी। परंतु गांधी जी ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की मांग पूरी होने पर हिंदू दलित हिंदू समाज का विधान होगा। उन्होंने यरवदा जेल में ही आमरणअनशन शुरू कर दिया।

वे पृथक निर्वाचक मंडल के स्थान पर संयुक्त निर्वाचित मंडल और आरक्षित सीटों के वैकल्पिक प्रस्ताव पर विचार करने के लिए कहा। जातिवाद और उच्चवर्गीय की सत्ता तथा अंहकार के कारण पहली बार मिलने वाले राजनैतिक अधिकारों से वंचित होना पड़ा। इसलिए बाद में गांधी जी द्वारा चलाए गये अश्पृश्यता कार्यक्रम का दलितों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बाद में यरवदा समझौते के दौरान किये गये वायदों को लागू नहीं किया गया। गांधी जी को यह डर लगा रहता था कि सामाजिक सुधार आंदोलन के कारण जागृत समुदाय अपने अधिकारों की अगर पृथक-पृथक मांग करने लगेंगे तो राजनीतिक स्वतंत्रता आंदोलन खटाई में पड़ सकता है। लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता मिलना जितना आवश्यक था, उतना ही दलितों को सामाजिक स्वतंत्रता मिलना आवश्यक था। देश की स्वतंत्रता के बाद भी दलित जाति व्यवस्था के कारण उच्चवर्गीय समाज के गुलाम बने रहेंगे और उनका शोषण निरंतर चलता रहेगा। डॉ. अम्बेडकर की यह स्वाभाविक चिंता थी। गैर दलितों के अत्याचार को समाप्त करने और सामाजिक समता लाने के कार्यों को वे सर्वाधिक महत्व देते थे।

स्वतंत्र भारत के प्रथम कानून मंत्री बनने पर डा. अम्बेडकर ने सांविधानिक तौर पर प्रगतिशील उपबंधों को शामिल किया। उनका सबसे बड़ा योगदान है, अनुच्छेद 15 और 16 जिसमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जन जातियों या सामाजिक दृष्टि से पिछड़े सभी वर्गों के हितों को आगे बढ़ाने के लिए विशेष उपबंध किए गए। विधानमंडलों में ही नहीं, नौकरियों में भी आरक्षण व्यवस्था की गई। आज भारतीय समाज में आरक्षण के कारण सत्ता की उच्चतम संस्थाओं का स्वरूप बदला है। वह सवर्ण बाहुल्य जरूर है, परंतु उनकी रचना में दलितों की भी उपस्थिति है। बाबा साहब यहीं चाहते थे। अत: हम देख सकते हैं कि बाबा साहब अम्बेडकर ने समाज में परंपरात्मक तथा संरचनात्मक दोनों ही परिवर्तन किये हैं।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि डा. अम्बेडकर के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, संविधानिक विचार ने दलित साहित्य की नींव को मजबूत किया है। दलित साहित्य की वैचारिकी को प्राचीन काल में चार्वाक से लेकर डा. भीमराव अम्बेडकर के विचारों के कारण दलित समाज में हुए परिवर्तन में देखा जा सकता है।

### (ग) दलित साहित्य की संभावनाएँ

दलित साहित्य साहित्यिक संसार में एक नये अनुभव  नए भाव और नए प्रकार की लेखन अभिव्यक्ति के नए धरातल की खोज है। सामाजिक रूप से वंचित समाज को भाषा-शैली के स्तर पर एक नया रूप प्रदान किया गया। भारतीय समाज में निकृष्ट समझे जाने वाले मनुष्यों एवं जाति के लिए नया आयाम दिया जिसमें आत्माभिव्यक्ति को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस आत्माभिव्यक्ति ने अपने-अपने अनुभवों को साहित्यिक स्तर प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। दलित साहित्य समाज के सामने रहकर भी साहित्यिक संसार में उपस्थित रहा। यदा-कदा साहित्यकारों ने अपनी वाणी दी, पर साहित्य में प्रमुख स्वर बनकर उभारने में अक्षम रहा। इस कमी को पूरा करने के लिए दलित समुदाय के लोगों ने अपनी जिम्मेदारी समझी और साहित्य के रूप में विकसित करने का प्रयास भी किया। अपनी अभिव्यक्ति में दलित साहित्यकारों ने साहित्य के सभी आयामों एवं विधाओं में अपनी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की। साहित्यिक संसार में दलित साहित्य केवल अपनी साख ही मजबूत नहीं की बल्कि सामाजिक ताने-बाने में अपनी अहम भूमिका स्पष्ट की।

दलित साहित्य में जो प्रमुख बात उभर कर सामने आयी। वह है- अपने अनुभव पर ज्यादा जोर देना। जीवन जगत में सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण से हुई घटनाओं को साहित्यिक रूप में लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। अपने प्रस्तुतीकरण में जीवन में भोगे गये यथार्थ को साहित्यिक रूप में रखने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप एक नई भाषा-शैली का निर्माण हुआ। इस पर डा. मा. दि. फड़के ने अपने विचार वयक्त करते हुए लिखा है- *"अपने अनुभव तटस्थपूर्ण, अलिप्त रहकर निवेदित करने के स्थान पर यह अनुभव लेखक की समझदारी से व्यक्त होता है। उसकी भाषा भी अनुभव की भाषा है। दलित साहित्य की प्रेरणा सामाजिक परिवर्तन है। मनुष्य की प्रतिष्ठा सर्वश्रेष्ठ मूल्य है, ऐसा मानने वाला साहित्य अपनी नैतिक भूमिका प्रतिबद्ध है।"* [1] यहाँ पर अनुभव को भाषा से, भाषा को सामाजिक परिवर्तन से एवं सामाजिक परिवर्तन को मानव-मूल्यों से जोड़ा गया है। एक साथ इतने आयामों का आना दलित साहित्य की नयी संभावनाओं को उजागर करती है।

दलित साहित्य केवल काल्पनिक साहित्य के रूप में नही उभरा बल्कि वंचित समाज की मूक भाषा के स्थान पर इसने ऐसी वाणी को जन्म दिया था जो सामाजिक परिवर्तन को ही अपनी मंजिल मानता है। इस तरह यह साहित्य सीधे समाज से जुड़ता है।

दलित साहित्य में दूसरी खास बात उभर कर आती है। वह है- भाषा और शिल्प। यहाँ भाषा का एक अलग स्वरूप निर्मित हो रहा है। दलित रचनाकार अपने कटु अनुभवों पर विशेष महत्व देते हुए लिखते हैं कि दलित जैसा जीवन जीता है, साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति वैसी ही होनी चाहिए। भाषा के संदर्भ में प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' के छपने में आने वाली दिक्कतों का हवाला देते हुए लिखा है- *'दूसरे प्रकाशक प्रभात प्रकाशन थे। लगभग छः महीने पाण्डुलिपि के अपने पास रखने, जांचने-परखने के बाद उन्होंने यह कहकर लौटा दी कि इसकी भाषा कटखनी है। तीसरे प्रकाशक राधाकृष्ण थे। उन्होंने मेरी आत्मकथा की जांच-पड़ताल कर इसे अपरोक्ष रूप से 'अश्लील' कहकर लौटा दी।"* [2] भाषा के सवाल

---

[1] महीप सिंह (सं.): साहित्य और दलित चेतना पृ. 196

[2] उत्तर प्रदेश पत्रिका, सितंबर-अक्टूबर 2002, पृ. 25

पर नैमिशराय ने एक साक्षात्कार में कहा था- 'मैंने समाज में बोली जाने वाली भाषा और शब्द को चुना है। उसको यथास्थिति रखने का प्रयास किया है।' इसका उदाहरण हमें कई रचनाओं में मिलता है।

साहित्य में भाषा को लेकर लगभग सभी युग के रचनाओं ने वर्तमान परिवेश के अनुरूप ही दिशा दी है। इसको कुछ साहित्यकारों ने प्रयोग के रूप में व्यवहार किया तो दलित साहित्यकारों ने सीधे समाज में बोली जाने वाली भाषा को शिरोधार्य किया। इस संबंध में पुरूषोत्तम दास सत्यप्रेमी का विचार है- "*भाषा के धरातल पर अनवरत प्रयोग होते रहे हैं, और आस्वाद के धरातल पर भाषा के माध्यम से ही मनुष्य-मनुष्य के बीच संबंध स्थापित करने के लिए अपनी बात करते, कहते और लिखते रहे जिसके कारण 'की' हुई भाषा, कही हुई भाषा और जी हुई भाषा प्रकाशांतर में जीवनी, आत्मकथा, निबंध, आलोचना, कविता आदि द्वारा कथ्य और शिल्प को समाहित करते हुए आंदोलन और और वादधर्मिता के रूप में हमारे समक्ष आती रही है।*" [1] साहित्यिक स्तर पर दलित लेखन में यह बात साफ उभर कर सामने आती है। इसके कारणों को जांचकर पाते है कि साहित्यकार जिस कथा को अपनी लेखनी बनाता है। उसका जीवन उसकी भाषा के साथ भी जुड़ा है। जैसा कि प्राचीन संस्कृत नाटकों में देखने को मिलता है। जहाँ राजा संस्कृत में बात करता था वहीं दास-दासी प्राकृत में।

भारतीय संरचना और साहित्य को मानवता समग्रता और जातिगत संदर्भ में विद्रोही तेवर के साथ लिखने, देखने और जीने का प्रयोग दलित साहित्यकारों ने किया। दलित साहित्य केवल साहित्य से नहीं जुड़ता बल्कि अपनी पहचान अपने जीवन जगत में भोगे यथार्थ से जुड़कर साहित्य की रचना करता है। शरणकुमार लिंबाले के शब्दों में, - "*दलित साहित्य में व्यक्त हुआ जीवन दर्शन आज तक व्यक्त हुए अनुभव संसार के अपेक्षा अलग है। एक नया संसार, एक नया समाज, एक नया मनुष्य पहले-पहल साहित्य में व्यक्त हुआ है। दलित साहित्य का यथार्थ अलग है। इस यथार्थ की भाषा अलग है। यह भाषा दलितों की गवांर असभ्य भाषा है। यह दलितों की बोली भाषा है, यह भाषा शिष्ट संकेत*

---

[1] पुरूषोत्तम दास सत्यप्रेमी: दलित साहित्य और सामाजिक न्याय, पृ. 73

*और व्यकरण के नियम न मानने वाली भाषा है।"* [1] दलित साहित्य को नकार एवं विरोध की भाषा मानने वाले ओम प्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है-

*"दलित ने संस्कृत निष्ठ परंपरागत साहित्यिक भाषा, काव्यशैली, प्रस्तुतीकरण को नकार कर सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया। ऐसी भाषा जो दलित की पीड़ा अपमान, व्यथा की सही और यथार्थवादी अभिव्यक्ति बन सके। दलित साहित्य की भाषा-नकार और विरोध की भाषा है।"* [2] दलित साहित्य ने सहित्य में ऐसे नए शब्दों का समावेश किया जो सभ्य समाज की परिधि के बाहर था। जो शब्द समाज में आम लोगों की जुबान पर थी। पर साहित्य से गायब था। ऐसी स्थिति में ग्रामीण जीवन में प्रयुक्त होने वाले कई शब्द मिटते जा रहे हैं। लेकिन दलित साहित्य ने उन शब्दों को अपने आंचल में समेटकर सुरक्षित रखा। दलित समाज की बोली वाणी से ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते हैं जिससे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता टूटती है।

दलित साहित्य पर प्राय: सपाट बयानी और अश्लीलता का आरोप लगाया जाता है। जबकि दोनों ही आरोप सवर्णो की देन है। सपाट बयानी को देखें तो इसका मुख्य कारण भारतीय संस्कृति का देश में समान रूप से विस्तार। यह बीमारी किसी एक धर्म या क्षेत्र तक ही सीमित नहीं बल्कि सभी क्षेत्रों में मौजूद है। यही कारण है कि भाषाई एवं भौगोलिक क्षेत्रीयता में अंतर होने के बावजूद दलितों पर उत्पीड़न समान है।

*"गांव के नाम भले अलग हो, पर दलितों के जुल्म का स्वरूप समान है। सामाजिक बहिष्कार अलग श्मशान, अलग बस्ती, किराये पर घर न मिलना जाति छिपाना, सार्वजनिक स्थान में प्रवेश के लिए मनाही दलित स्त्रियों पर होने वाले अन्याय मृत जानवरों के खाल खींचना व फाड़ना, नाई द्वारा बाल न काटना आदि अनुभव हैं।"*[3]

दूसरा यह आरोप कि दलित साहित्य अश्लीलता का प्रतीक है। यह कहने से पहले देख लेना चाहिए कि दलित साहित्य में आये अश्लील शब्दों का प्रयोग कहां से हो रहा है। प्राय: ग्रामीण जीवन में गाली-गलौच एक आम बात है। इसमें तथाकथित सभ्य समाज भी शामिल होताहै। इस पर विचार व्यक्त करते हुए रूप चंदगौतम ने लिखा है कि-

---

[1] शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 41

[2] ओम प्रकाश वाल्मीकि: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 80-81

[3] शरण कुमार लिंबाले: दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 43

*"जो लोग भाषा तथा उसकी अश्लीलता के संदर्भ में अलोचना करते हैं। मेरा उनसे कहना है कि उन्हें पूर्ण रूप से आलोचनात्मक दृष्टि रखनी चाहिए, उस परिवेश की समझ होनी चाहिए।"*[1] साहित्य में देखने को मिलता है कि जब सवर्ण द्वारा दलितों को धमकाना होता है तब वे अश्लील या गाली शब्दों का प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रसंग दलित साहित्य के रचनाओं में देखा जा सकता है। परंतु अश्लील शब्दों के साथ ग्रामीण शब्दावली का भी प्रयोग हुआ है।

दलित साहित्य ने अभिव्यक्ति के लिए एक नये साहित्यिक धरातल की खोज की जिसमें अपने भोगे यथार्थ को साहित्य में शब्दबद्ध किया इसमें केवल भोगे यथार्थ की ही व्याख्या नहीं बल्कि साहित्य को मानवता से जोड़ने का काम बंधुत्व, भाईचारा एवं स्वतंत्रता क्षेत्र में दलित साहित्य ने समाज को साहित्य के करीब ला दिया है। क्योंकि इसमें किसी राजा-रानी के प्रेम-प्रसंग नहीं हैं। न कपोल कल्पना के अधार पर मनोरंजक गढ़ी हुई कहानी है। दलित साहित्य की यह विशेषता साहित्य को समाज से और समाज को मानवता से जोड़ती है।

डा. अम्बेडकर द्वारा शुरू किये गये नारी उत्थान की लड़ाई को दलित साहित्य की संभावनाओं के उत्कर्ष रूप में देखा जा सकता है। डा. अम्बेडकर ने हिन्दू कोड बिल के अंतर्गत स्त्रियों में संपत्ति के अधिकार, तलाक अधिकार, पुरूषों के बहुपत्नी विवाह का विरोध इत्यादि कानूनी अधिकारों के लिए संघर्ष किया। स्त्री दर्द को उन्होंने शिक्षा के माध्यम से दूर करना चाहा। उन्होंने 1942 के नागपुर सम्मेलन में महिलाओं को संबोधित करते हुए कहा था- *"किसी भी समाज की प्रगति का सही अंदाजा स्त्रियों में हुई प्रगति से ही लगाया जाता है। आप घरों से निकलकर यहां तक आई। निश्चय ही आप प्रगति पर हैं। आप अपने पतियों के सामाजिक कार्यों में सहयोग करें। पति की दासी नहीं मित्र बने। बच्चे कम पैदा करे और उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने पर ही उनकी राय के अनुकूल शादियां करें। बेटी-बेटा दोनों को उच्च शिक्षा दें। पति यदि शराब पीकर घर में घुसे तो उनके लिए दरवाजे बंद कर दें। अधिक नहीं तो आप इन बातें पर थोड़ा सा अमल करें तो निश्चय ही*

---

[1] अगुत्तर पत्रिका, 1996

*आप की प्रगति होगी।"* [1] 21 फरवरी 1988 के बंबई असेम्बली में पेश किया गया महिला विषयक बिल में उन्होंने कहा था कि-" *देश की इन माताओं को मातृत्वकाल (प्रसूति समय) को निश्चित अवधि में विश्राम मिलना चाहिए। शासन अथवा मालिकों को इन महिलाओं के खर्च उठाने चाहिए।"* [2] *डा. अम्बेडकर के इन विचारों को दलित साहित्य में देखा जा सकता है। क्योंकि दलित वर्ग में हिंदू परंपराओं जैसे व्रत, उपवास, विवाह के अवसर पर शुभमुहूर्त आदि के नाम पर लड़की को प्रताड़ित नहीं किया जाता है, परंतु कुछ अपवादों को छोड़कर।*

*दलित साहित्य का मकसद केवल अपनी मुक्ति नहीं गैर दलितों की भी मुक्ति हैं। बजरंग बिहारी तिवारी के अनुसार- 'सवर्ण' जाति दलित समुदाय पर बेइंतहा जुल्म ढा सकती है और उसे यह सारा कर्म स्वाभाविक लगता है। परंतु जाति विरोधी दलित लेखन उसमें सोई हुई, मरी हुई मनुष्यता को जगाने का, पुनर्जीवित करने का उपक्रम करता है।"* [3]

यहाँ पर कहा जा सकता है कि दलित साहित्य को पूर्वग्रह से हटकर व्यापक रूप में पढ़ा जाय, समझा जाय तो वह समाज में समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व का विस्तृत फलक तैयार करता है।

---

[1] रमणिका गुप्ता (सं.): दलित चेतना- सोच पृ. 111

[2] रमणिका गुप्ता (सं.): दलित चेतना- सोच पृ. 111

[3] गौरी नाथ: बया पत्रिका, 2006, पृ. 28

# द्वितीय अध्याय

## हिन्दी दलित साहित्य के प्रश्न एवं 'हंस' पत्रिका

(क) दलित कविताएँ

(ख) दलित आत्मकथाएँ

(ग) दलित कहानियाँ

(घ) लेख

हिन्दी में दलित साहित्य का आरंभ सन् 1914 में सरस्वती पत्रिका के सितंबर अंक में प्रकाशित हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' से माना जा सकता है। इस कविता में वर्णित भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था से उपजे जातिवाद, छुआछूत, अपमान, अन्याय अत्याचार आदी के प्रति कवि हीराडोम की असंतुष्टि पूरे दलित समाज की असंतुष्टि है। यह असंतुष्टि आगे चलकर अन्य लेखकों जैसे स्वामी अछूतानंद 'हरिहर', भगवानदास, चन्द्रिका प्रसाद 'जिज्ञासु' और ललई सिंह की कविताओं में भी दिखाई देती है। भारतीय समाज के प्रति दलित वर्ग की यह असंतुष्टि दलित आंदोलन, दलित विमर्श, दलित साहित्य में भी दृष्टिगोचर है।

नब्बे के दशक में हिन्दी में उभरने वाले दलित साहित्य को साहित्यिक विमर्श के केन्द्र में लाने का श्रेय 'हंस' पत्रिका को जाता है। अगस्त 1992 में 'हंस' के तत्वाधान में दिल्ली में दलित साहित्य पर केन्द्रित एक गोष्ठी आयोजित हुई। उसमें हिन्दी के अनेक दिग्गज साहित्यकारों ने भाग लिया यद्यपि उस गोष्ठी का मूल स्वर दलित साहित्य के प्रति आश्वस्ति का नहीं था लेकिन उसमें एक बात स्पष्ट थी कि हिंदी में दलित साहित्य का प्रवेश हो गया है। दलित लेखक श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार- *"1990 के बाद सामाजिक लोकतंत्र की चेतना जन्य विवशता के चलते विशेषकर हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने दूरदृष्टि से समझा और गैर दलित स्त्री लेखन के साथ-साथ दलित लेखन को भी आंशिक मंच देना शुरू किया"*[1]

प्रेस, सूचना एवं संचार माध्यम, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पहलुओं के उतार-चढ़ाव में बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। यदि हम हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक दौर को देखें तो बहुत सी पत्र-पत्रिकाओं ने हिंदी साहित्य को उभारने में बहुत मदद की है। इनमें हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मैगजीन, ब्राह्मण, हिन्दी प्रदीप, सरस्वती, आनंद कादंबिनी आदि प्रमुख हैं। जिस तरह से हिंदी साहित्य को बढ़ाने का कार्य सरस्वती पत्रिका ने किया, उसी तरह हिंदी दलित साहित्य के विकास में 'हंस' पत्रिका की अहम भूमिका रही है। 'हंस' मुंशी प्रेमचंद के समय से ही साहित्य में एक महती भूमिका निभाती आ रही है। यदि उस समय स्वाधीनता आंदोलन इसके केन्द्र में रहा तो अमृतराय और

---

[1] श्यौराज सिंह 'बेचैन': समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ. 177

शिवदान सिंह चौहान के संपादन में 'हंस' में मार्क्सवाद, प्रगतिशील आंदोलन पर ध्यान दिया गया।

तत्पश्चात अगस्त 1986 से 'हंस' के संपादकत्व का कार्यभार कथाकार राजेन्द्र यादव जी के हाथ में आ जाने के साथ हंस की वैचारिकी में पुनः परिवर्तन आया। नब्बे के दशक तक आते-आते हंस के केन्द्र में 'अस्मिताएँ' आ गयीं, जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी अस्मिताएँ प्रमुख हैं। साथ ही साथ 'हंस' ने समसामयिक विषयों जैसे संप्रदायिकता, आतंकवाद, भूमंडलीकरण पर भी प्रकाश डाला है।

दलित साहित्य मराठी में बहुत पहले से हैं। सन् 1920-30 में डॉ भीमराव अम्बेडकर द्वारा चलाये गये आंदोलन एवं उससे विकसित दलित साहित्य अपने प्रौढ़ रूप में मराठी में उपलब्ध है। हिंदी पट्टी में दलित साहित्य को लाने की पहल हंस ने की। शुरूआती दौर में जब दलित साहित्यकार अपनी रचनाओं को लेकर इधर-उधर भटक रहे थे और छोटी-छोटी पत्रिकाओं ने उन्हें छापने से मना कर दिया तो हंस ने उनकी रचनाओं को छापने की पहल की। हिंदी में दलित साहित्य को स्थापित करने में हंस ने एक सूत्रधार की भूमिका निभाई और लगातार निभा रही है। जब हंस ने दलित साहित्यकारों को जगह दी तो कई स्थापित विद्वानों ने उसकी खूब आलोचना की। एक तरफ जहाँ 'मुख्यधारा' के लोगों ने यह कहा कि 'हंस' का स्तर गिरता जा रहा है, राजेन्द्र जी स्त्री, दलित साहित्य के रूप में अश्लील साहित्य को तवज्जो दे रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ दलित लेखकों, पाठकों की यह प्रतिक्रिया रही कि दलित साहित्य के नाम पर राजेन्द्र ढोंग कर रहे हैं। इस मिश्रित प्रतिक्रिया के साथ संपादक राजेन्द्र यादव ने इस क्षेत्र में आगे बढ़ना शुरू किया। धीरे-धीरे दलित साहित्य उजागर होने लगा। बाद में मुख्य धारा के लोगों ने स्वयं दलित साहित्य से जुड़ने की कोशिश की और यहीं से शुरू हुआ स्वानुभूति एवं सहानुभूति का प्रश्न। इस पर राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकीय में लिखा है-

1. *"पढ़ा घोटा गया सारा शास्त्र बेकार हो गया, हद कर दी दलित-स्त्री विमर्श ने जिधर देखो यही....यही, कान पक गये, ये तो हमारे घर में ही सेंध लगा दी बदमाशों ने।"*
2. *"ये दलित और स्त्रियाँ क्या खाक साहित्य लिखेंगे, पहले कलम पकड़ना सीख लें, इनके सात पुरखों ने कभी लिखा है कुछ? जाके अपनी रोटियाँ बनाये, बच्चे खिलाएँ*

*जूते गाठें, भैंस चरायें, झाड़ू दें- यह साहित्य है हुजूर, बहुत कसाले से आता है- लड्डू नहीं है कि गप से खा लिया।"*

3. *"साहित्य तो साहित्य होता है। वह सर्वकालिक और सार्वभौमिक है, उसे दलित-स्त्री में बांटकर देखना दुर्बुद्धि है, बकवास है....।"*[1]
4. *"माना इनमें कोई बात है जो हमसे अलग है मगर इससे हमारा लिखा व्यर्थ तो नहीं जाता....यह बचाव का आखिरी मुद्दा है।"*

*"स्त्री-दलित विमर्श से पहले हर नई प्रवृत्ति को इन्हीं तीन चार तर्कों से गुजरना पड़ा है, पहले खामोशी और अनदेखा करना, फिर मजाक उड़ाना, फिर रियायतें देकर अगर-मगर लगाना और अंत में स्वीकृति की उदारता का प्रदर्शन।"*[2]

आज जब साहित्यिक दुनिया में नामी-गिरामी प्रतिष्ठित लेखकों की ही पूछ हो रही है और पुरस्कृत होने की होड़ मची है, ऐसे में बिना किसी मोह के 'हंस' ने अजय नावरिया, हरि भटनागर, अर्जुन चाहवाण, विपिन चौधरी, हरिराममीणा, बजरंग बिहारी तिवारी, अशोक भारती, राज वाल्मीकि आदि तमाम उभरते युवा रचनाकारों को जगह दी है। वस्तुत: आज दलित साहित्य के पास अपनी अकादमी अपने प्रकाशन, अपने सम्मेलन, अपनी पत्रिकाएँ है। फिर भी 'हंस' पत्रिका का हिंदी दलित साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि 'हंस' मुख्यधारा की पहली ऐसी पत्रिका है, जिसके पाठक देश के कोने-कोने में मौजूद हैं, दलित साहित्य को हंस ने देश के जन-जन तक पहुँचाया है, दलित वर्ग के सच को मुख्यधारा से जोड़ा है। क्योंकि दलित साहित्य के नाम पर छापी गयी दलित पत्रिकाएँ मुख्यधारा में दलितों जैसी ही अछूत हैं। श्यौराज सिंह बेचैन के अनुसार-

*"हंस (सं. राजेन्द्र यादव) के संपादकीय व प्रकाशित सामग्री ने दलित लेखन को मुख्यधारा की राष्ट्रीय बहस के केन्द्र में ला दिया है, हंस ने थोड़ा बहुत पारिश्रमिक भी दिया है यह किसी से छिपा नहीं है। हंस के दलित लेखकों व संपादक पर वर्णवादी व यथास्थितिवादियों का कोप किस तरह बरसता रहा है वह पत्र-पत्रिकाओं से जाहिर है।"*

---

[1] हंस, जनवरी 2002, पृ.5

[2] श्यौराज सिंह 'बेचैन': समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ. 167

हंस ने समय-समय दलित साहित्य पर लेख, कविताओं आत्मकथात्मकअंशो, लघुकथाओं कहानियों को छापा है और उनसे उभरे प्रश्नों व समस्याओं को बहसों के माध्यम से सुलझाया है। इसी सिलसिले में 17 अगस्त 1998 को साहित्य अकादमी में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' पर जनवादी लेखक संघ (जलेस) की ओर से दलित साहित्य पर चर्चा संपन्न हुई, इस मौके पर हंस के संपादक राजेन्द्र यादव ने कहा था कि- *"चाहे तो मेरी बात प्रतीक रूप में ली जाये, पहली तो यह है कि देश की एक दलित महिला प्रधान ने पचास साल की आजादी में पहली बार झंडा फहराया, दूसरी यह कि साहित्य अकादमी के इस सभागार में पहली बार किसी दलित लेखक की रचना पर हम सब बात कर रहे हैं।"*[1] सैकड़ों साल के परंपरावादी साहित्य में यह सेंध मारना, कम परिवर्तनीय नहीं है, परंतु ऐसे ही परिवर्तन क्या दलित साहित्य में हो रहे हैं, इसकी पड़ताल हम इक्कीसवीं सदी के शुरूआती वर्षो (2001-2008) में हंस में छपे दलित साहित्य से कर सकते हैं। ऐसे में हंस में छपे दलित आत्मकथांश, कविताएँ, कहानियाँ, लघुकथाएँ, लेखों को देखना जरूरी है। सबसे पहले हम हंस में छपी दलित कविताओं को रेखांकित करेंगे।

### ( क ) दलित कविताएँ

दलित कविता दलित साहित्य की प्रौढ़ विधा के रूप में उपस्थित है। दलित कविता की पृष्ठिभूमि, प्रस्फुटन संवेदना और वर्तमान स्थिति की पड़ताल के लिए थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा क्योंकि उसकी शुरूआत संत कवि रैदास और कबीर ने भारतीय समाज में व्याप्त असमानता, अंधविश्वास और रूढ़िवादिता पर जमकर चोट की। इस समय के संत कवियों में अधिकांश तथाकथित निम्न जातियों से आए थे। रैदास ने अपनी सामाजिक स्थिति का चित्रण इन दो साखियों में इस प्रकार किया है-

*"जा देष्या घिन उपजै, नरकुंड मह वास।*
*प्रेम भगति सों उबरै, प्रकट जन रैदास।।*
*रैदास तू कांवचि फली, तुझे हुं न छिपे कोई।*

---

[1]श्यौराज सिंह 'बेचैन': समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उवाच, पृ. 168

*जो निज नांव न जानिया, भली कहां ते होई।।'"*

जिसे देखते ही शेष समाज में घृणा व्याप्त हो जाती है और जिसे रहने के लिए गांव का बाहरी तथा नारकीय हिस्सा ही उपलब्ध है। रैदास कौंच की फली जैसा अछूतों को मानते हैं जिसको कोई हिंदू स्पर्श नहीं करना चाहता, ऐसे वर्ग के लोगों के लिए शिक्षा, ज्ञान एवं उपासना के सब द्वार बंद थे। इन संतों ने प्रभु को अपने मन में ढूंढा और हिंदू धर्म की असमानता पर आधारित वर्ण-व्यवस्था एवं पाखंड पर चोट की। कबीर की कविता रैदास की इसी विचारधारा का विस्तार था। परंतु कविता की यह स्रोतस्विनी जो पंद्रहवीं सदी के मध्य बह रही थी, वह जल्दी ही सूख गयी। गजानन माधव मुक्तिबोध के अनुसार-

''जो भक्ति आंदोलन जन-साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक, कट्टरपन के विरूद्ध जन-साधारण की सांस्कृतिक आकांक्षाएँ बोलती थी। उसका मनुष्य सत्य बोलता था। उसी भक्ति आंदोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह का बना लिया और उससे समझौता करके फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनंतर जनता के अपने तत्वों को निकालकर उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया''[2] अंततः दलित परिवेश की सुगबुगाहट ने फिर से चिंगारी का रूप लिया और सन् 1914 में हीराडोम की कविता 'अछूत की शिकायत' सरस्वती में प्रकाशित हुई। स्वतंत्रता पूर्व एवं स्वतंत्रता पश्चात अनेक हिंदी दलित लेखकों ने शम्बूक, एकलव्य, रैदास, झलकारी बाई बिरसामुंडा, डा. अम्बेडकर आदि की कथाओं को अपने काव्य का विषय बनाया जिसमें श्री बिहारी लाल 'हरित', माता प्रसाद, अछूतानंद 'हरिहर', ललई सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। दलित कवियों के लिए कविता कला से ज्यादा जीवन की अदम्य लालसा और गतिशीलता का संवाहक है जिसमें उनकी पीड़ा सुख-दुख संस्कृति इतिहास अभिव्यक्त होता है। इसकी सहायता से दलित कवि को जीवन की विद्रूपताओं से जूझने का हौसला मिलता है। दलित कविता विरोध और नकार की ही कविता नहीं, वह मानवीयता की

---

[1] प्रणवबंधोपाध्याय (सं.): दलित प्रसंग, पृष्ठ-64

[2] शिव कुमार मिश्र: भक्ति आंदोलन और भाक्ति काव्य, पृष्ठ- 18

पहचान की कविता है, युगों-युगों से पीड़ित, दमित एवं शोषित मानवता के एक हिस्से की मुक्ति की कविता है।

'हंस' ने समय-समय पर दलित लेखकों की कविताओं को छापा है। यहाँ हम उन्हीं की पड़ताल करेंगे। 'हंस' के अक्टूबर 2001 के अंक में छपी जय प्रकाश कर्दम की कविता 'लाठी' वर्णवादी सामंती व्यवस्था को उजागर करती है। इस कविता का विषय गाँव से लिया गया है। उत्तर भारत के हर गांव में पानी को लेकर होने वाले मार-पीट को देखा जा सकता है वैसे दलितों को पीने के पानी को लेकर संघर्ष करना ही पड़ता है, परंतु खेत में पानी ले जाने में भी कम संघर्ष नहीं है, यहाँ भी दलितों को सवर्णों का सामना करना पड़ता है-

*पानी का वार हमारा था*
*लेकिन मढ़ैया का बदनी जाट*
*काट ले गया था पानी*
*जबरन अपने खेत में*
*प्रतिकार किया मेरे पिता ने*
*तो उनके कमर पर पड़ी थी लाठी।*[1]

उसी लाठी ने जयप्रकाश कर्दम के पिता की जान ले ली उनके पिता जी को मरे बीस वर्ष हो गये, परंतु लाठी से उपजा दर्द आज भी कर्दम के सीने में सकता है। अपनी दूसरी कविता 'दासता' में कर्दम नेआर्यो-अनार्यो में युद्ध और उसमें पराजित अनार्यो के साथ हुए आर्यो के अमानवीय बर्ताव का वर्णन किया है। इस कविता में यह दिखाया गया है कि आर्य भी शक, हूण, मुगल, अंग्रेजों आदि से हारे थे, परंतु उन्होंने आर्यो के साथ वैसा सलूक नहीं किया जैसा आर्यो ने दलितों के साथ किया, वे चाहते तो आर्यो (सवर्णो) से पीढ़ी दर पीढ़ी गुलामी कर सकते थे। परंतु वे ऐसा इसलिए नहीं कर सके कि उनमें मनुष्यता बाकी थी-

*''जीत के उन्माद में। अंधे नहीं हो गये थे वे*
*मनुष्यता बाकी थी उनमें। हृदयहीन नहीं थे वे*

---

[1] हंस अक्टूबर 2001, पृष्ठ-50

*तुम्हारी तरह''* [1]

नवंबर 2001 के अंक में मदन वीरा की चार कविताएँ प्रकाशित हुई, 'कलारसिक', 'हिजरत', 'घोड़ा', और 'धुंध के पार'। 'कला रसिक' नामक कविता मुख्यधारा से अलग हाशिये के सौंदर्यशास्त्र को रेखांकित करती है। इसमें कला रसिक दलित बस्ती को आठवें अजूबे के रूप में देखता है और वहाँ पाथियां पाथ रही अल्हड़ लड़कियों की आंखों की चमक और चेहरे के आगे मोनालिसा की सुंदरता उसे फीकी लग रही है। गांव में चारपाइयों से जोड़कर बनाये गये मोबाइल बाथरूम की तुलना वह पुरातत्व की किसी वस्तु से करता है। कलारसिक को धुंध में डूबी सुबह, नंग-धड़ंग बच्चे, कालिख से सने जिस्म और नक्शहीन चेहरे में अलग ही सुंदरता दिखाई देती है।" यह सुंदरता काल्पनिक न होकर यथार्थपरक है-

*''बस्ती के लोग हैरान होते हैं*
*उसके विचारों पर। उसकी सादगी पर*
*जो उन आम लोगों में विचरता है। आम सा बनने की कोशिश में*
*एक खास अदा के साथ''* [2]

मदनवीरा की दूसरी कविता 'हिजरत' में अच्छी जिंदगी की तलाश में गांव से शहर की ओर पलायन करने की व्यथा वर्णित है। तीसरी कविता 'घोड़ा' प्रतीकात्मक रूप में दलितों में छिपी शक्तियों की याद दिलाता है। और चौथी कविता 'धुंध के पार' में 'कर्म कर फल की चिंता मत कर' का उपदेश देने वाले ग्रंथ 'भगवतगीता' पर व्यंग्य किया गया है।

*''मैं शब्दों के जंगल में। न उलझा हूँ, न अस्त हुआ हूँ..*
*मैं बस उस पूज्य पुस्तक से सम्मुख हूँ। जो कर्म करने को तो महत्व देती है*
*पर फल की इच्छा को पाप बताकर। हक से दूर करती है*
*न्याय से वंचित करती है। और नकारती है मेहनत को, पसीने को''* [3]

---

[1] हंस अक्टूबर 2001, पृष्ठ-50

[2] हंस अक्टूबर 2001, पृष्ठ-58

[3] हंस अक्टूबर 2001, पृष्ठ-58

परंतु जनवरी 2002 में छपी राज वाल्मीकि की गज़ल यह दिलासा देती है कि हमेशा ऐसी स्थिति नहीं रहेगी-

*''आज नहीं तो कल निकलेगा*

*कुछ न कुछ तो हल निकलेगा''* [1]

फरवरी 2002 के अंक में छपी सूरजपाल चौहान की कविता 'कलात्मकता के नाम पर' सवर्णों द्वारा दलित साहित्य को खारिज करने का खुलासा करती है कि सवर्ण हमेशा दलित लेखन को अश्लीलता और कलात्मकता के नाम पर नीचा मानते रहे हैं। इस पर सूरजपाल चौहान कहते हैं-

*''हमेशा से तुमने। मेरे सृजन को। अपना कहा है*

*परंपरा की दुहाई देकर। छला है। और गढ़ा है। हवाई साहित्य कलात्मकता के नाम पर''* [2]

इसी भाव को आगे ले जाती है इसी अंक में छपी चिरंजीलाल कटारिया की कविता 'कहानियाँ'।

*''मुट्ठी भर। नवजात शब्दों के। अंकुर फूटते देख। तुम्हारी छाती पर सांप लोटने लगे। अभी तो इन्हें। तुम्हारे जुल्मों की लाखो। अनकही कहानियाँ बयान करनी है।''* [3]

जुलाई 2002 के अंक में हंस में ओम प्रकाश वाल्मीकि की तीन कविताएँ प्रकाशित हुई 'गीली जमीन', 'स्याही में रंगा शब्द' और 'हमलावर'। इन कविताओं में अनुभूति की गहनता और शिल्प की प्रौढ़ता दोनों देखने को मिली। ये तीनों कविताएँ आपस में जुड़ी हुई विषय वस्तु की धारावाहिक रूप में प्रस्तुति है। 'गीली जमीन' नामक कविता में वाल्मीकि जी ने सवर्ण वर्ग को अपराधी के रूप में चित्रित किया है।

---

[1] जनवरी हंस 2002, पृष्ठ-90

[2] फरवरी हंस 2002, पृष्ठ-19

[3] फरवरी हंस 2002, पृष्ठ-22

*कुंडली मारे बैठे हैं/ अपराधी समूह/वहाँ/ जहाँ-जहाँ बोया हमने अपना रक्त/ असंख्य उम्मीदों के साथ/ जमीन के उन तमाम हिस्सों को दबोच लेते हैं वे/ अपनी शालीनता की आड़ में "*

परंतु दलित वर्ग जब-जब अपनी इच्छाओं को सवर्णों के साथ दर्ज करने की बात की तो उसे सवर्णों द्वारा छला गया अपनी इन्हीं अतृप्त इच्छाओं को पूरा करने के लिए संघर्ष करता है तो सवर्णों द्वारा उनके संघर्षों को निष्फल किया गया जो 'स्याही में रंगा शब्द' नाम कविता में वर्णित है-

*''फड़फड़ाने लगे जिस्म/ पंख कटे कबूतर की तरह रो पड़ी उंगलियाँ सिर पटक पटकर/ अतीत और वर्तमान की चौखट पर कर दिया खारिज/ स्याही में रंगे उस सुनहरे शब्द को जो लुढ़का पड़ा है गोद में सत्ता की/ कर दिया घोषित उसे मैंने हमेशा-हमेशा के लिए/ जघन्य अपराधी''* [2]

वही तीसरी कविता 'हमलावर' सवर्ण में जघन्य अपराधी से हमलावार में तब्दील हो जाता है। वह हमलावर कभी भी आक्रमण कर सकता है।

''अक्सर लगता है/जैसे चलती-फिरती भीड़
*तब्दील हो गई/ कटीले दरख्तों मे/ डंगालों पर बैठे हैं फन फलास जहरीले सांप/ जो टूट पड़ेगे किसी न किसी भी दिन एक दूसरे पर''* [3]

फरवरी 2003 में छपी शैलेन्द्र चौहान की कविता दया दलित के संदर्भ में सवर्णों द्वारा दलितों पर दया दृष्टि के खिलाफ है। वे लिखते हैं कि दलितों के नरसंहार के समय या बस्ती जलाने पर सवर्ण राजनेता दुख तो प्रकट करते हैं, परंतु इससे बचने का कोई उपाय नहीं देते। जबकि दलित वर्ग को उनकी दया दृष्टि नहीं अपने अधिकार चाहिए।

*''सवर्णों ने बड़ी दया की/ रातभर दलित प्रश्न हल किया सामूहिक नरसंहार किया/ उन्होंने खेद प्रकट किया*

---

[1] हंस जुलाई 2002, पृष्ठ-50
[2] हंस जुलाई 2002, पृष्ठ-50
[3] हंस जुलाई 2002, पृष्ठ-50

*पग-पग पर लोगों ने मुझ पर दया की/ हर दया चस्पा है मेरे मन पर मेरा घाव रिस रहा है मवाद बनकर/ मैं एहसान फरामोश नहीं हूँ अब तैयार हूँ मैं/ उचित बदला चुकाने के लिए''* [1]

जनवरी 2004 के अंक में राजेन्द्र कुमार कन्नौजिया की कविता 'वजह' में गांव से शहर की ओर पलायन का वर्णन है। पलायन के दौरान लोग जो सपने गांव से लेकर चलते हैं उन्हें शहर आकर वे भूल जाते हैं। कवि अपनी इस चिट्ठीनुमा कविता में उन सपनों की याद दिलाते हैं।

*"रामखेलावन, नईम, सतबीर/ अम्मा, बिट्टो कमली बचें या न बचें मेरे सपनें/ गंगा कसम तुम जरूर रहना मेरे सपनों के इर्द गिर्द/ कोई न कोई वजह/ तो बची रहे वापस घर लौटने की।'*[2]

हंस का अगस्त 2004 का अंक दलित विशेषांक के रूप में छपा। इस विशेषांक में दलित कहानियाँ, आत्मकथांश, कविताएँ, साक्षात्कार आदि छापे गये। कविताओं में अछूतानंद 'हरिहर', श्यामलाल शमी, संगीता नौहियाता, कृष्ण परख, सत्यप्रकाश और राजेश चंद्र की कविताएँ छपी हैं। इसमें स्वामी अछूतानंद 'हरिहर' ने भारत के मूल निवासियों के लिए 'आदि हिंदू' आंदोलन चलाया। इन्होंने अछूतों को संगठित कर अन्याय, अत्याचार और सामाजिक कुरीतियों का मुकाबला करना सिखाया और दलितों में नवचेतना का संचार किया। हंस के विशेषांक में छपी कविताएँ दलित समाज को स्वाभिमानी होने के साथ-साथ आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा देती हैं और आदिवंश के ऐतिहासिक महत्व को भी रेखांकित करती हैं।

*''पुरखे हमारे थे बादशाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो।*
*अब हिंद में हम हैं तबाह, तुम्हें याद हो कि न याद हो।।*
*इतिहास में जो नामवर थे और पराक्रमी धनुर्धर।*
*थे सभ्यता में अग्रसर तुम्हें याद हो कि न याद हो।।'*[3]

---

[1] हंस फरवरी 2003, पृष्ठ-50
[2] हंस,जनवरी 2004, पृष्ठ-52
[3] हंस, अगस्त 2004, पृष्ठ-188

स्वामी अछूतानंद की कविता 'मनुस्मृति से जलन' 1925 में लिखी गयी जबकि बाबा साहब अम्बेडकर ने मनुस्मृति 25 दिसंबर 1927 को जलाई थी। अतएव डा. अम्बेडकर पर इस कविता का प्रभाव माना जा सकता है-

*''निशदिन मनुस्मृति ये, हमको जला रही है।*
*ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।।*
*ब्राह्मण व क्षत्रियों को सबको बनाया अफसर*
*हमको पुराने उतरन पहनो बता रही है।''*[1]

स्वामी जी ने दलित वर्ग से हीनता मिटाने, उनमें जागृति लाने, एकता, स्वतंत्रता समानता, मातृभाव एवं न्याय प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया, अछूतों को पवित्र माना है। अछूत शब्द पर विचार करते हुए कहा था-

*"द्विज हमें अछूत कहते हैं। अछूत का अर्थ है जिसमें छूत न हो अर्थात्*
*'पवित्र' परम संत कबीर साहब का बचन है-*
*छूतै जे मन छूतै आचमन, छूतै जग उपजाया।*
*कहत कबीर ते अछूत जानो, जाके संग नमाया।।'*[2]
*इसी अर्थ में मेरा नाम अछूतानंद है अर्थात् पवित्रता में आनंद मानने वाला"*
अर्थात् 'छूतों' के संग अछूतों को नहीं रहना चाहिए-
*होरी खेलो अछूतौ भाई, छूतैरो से छोर।*
*इनके लोभ फंसे जो भाई उन्नति कबहूँ न पाई।'*[3]

स्वामी अछूतानंद अपने समकालीन, समाज सुधारकों, कवियों लेखकों में दलितों की व्यथा पर निर्भीक, निडर एवं निर्भय होकर बात करने वाले पहले व्यक्ति थे। दलित साहित्य की उत्पत्ति में उनका एवं उनकी रचनाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इसी विशेषांक में छपी श्यामलाल शमीं की कविता, 'दलित सौंदर्य शास्त्र' मदनवीरा की कविता 'कला रसिक' की तरह दलित सौंदर्य शास्त्र या हाशिये के सौंदर्य

---

[1] हंस अगस्त 2004, पृष्ठ-188
[2] जय प्रकाश कर्दम (सं): दलित साहित्य 1999, पृष्ठ-70
[3] वहीं, पृष्ठ-189

शास्त्र की बात करती है, ऐसा सौंदर्य शास्त्र जो 'रैदासीय' और 'कबीरीय' सौंदर्य शास्त्र का परिचायक हो, यानि जिसमें कल्पना का पुट न हो, जिसकी शैली खरी, अक्खड़ अनगढ़, यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है। परंतु श्यामलाल शमीं की दूसरी कविता 'कुछ नहीं बदला' निराश करती है-

*''बाप पहले, पुत्र अब/ अपने छुआता पांव*
*छूत लगती/ उन्हें, अब भी हमीं से*
*मुक्ति दे दे कोई/ नरकिया जिंदगी से''* [1]

संगीता नौटियाल की कविता 'अहसास' प्रेमपरक विरह व्यथा की कविता है। इसमें असफल प्रेम की चर्चा है जो सवर्णों की देन मानी जा सकती है-

*''तेरे जाने के बाद सिर्फ तेरी यादें हैं मेरे साथ*
*क्यूं नहीं मिटते*
*काश कि तू फिर से आ जाए*
*मेरी दुनिया*
*हर ख्वाब हकीकत में बदल जाए*
*काश कि तू फिर आ जाए''* [2]

कृष्ण परख की कविता 'जाग रे इंसान' दलित जागृति की कविता है। यह उन लोगों को चेतावनी है जो अम्बेडर के दलित से गांधीवादी हरिजन में तब्दील हो जाते हैं। गैर दलितों के प्रति सेवा भाव रखने वाले दलित जब उन्हीं द्वारा छले जाते हैं तब उन्हें महसूस होता है कि वे गांधीवादी हरिजन नहीं अम्बेडकरवादी दलित हैं।

*''राकू कुम्हार सरकारी अफसर था*
*तिलक धागे ताबीज पत्थर खूब पहनता था*
*यज्ञ हवनों से*
*खूब वर्ण- व्यवस्थापकों को प्रसन्न रखता था*
*बिरादरी से दूर भागता था।*

---

[1] हंस अगस्त, 2004, पृष्ठ-190
[2] हंस अगस्त, 2004, पृष्ठ-190

*एक दिन राकू कुम्हार मुंह लटकाये बैठा था*

*मैंने कहा- क्या हुआ?*

*वह बोला- ब्राह्मण का ट्रांसफर नहीं हुआ*

*मुझे दिल्ली से उठाकर झबुआ भेज दिया''* [1]

कृष्ण परख की दूसरी कविता 'घर हो तो ऐसा' में ऐसे घर की तलाश करते हैं जिसमें मनुवादी न हो होकर अम्बेडकर वादी विचार व्याप्त हों-

*''मनु का मकसद है/ अम्बेडकर को उगने न देना*

*अम्बेडकर का मकसद है/ मनु को ज्ञान देना*

*मैं दलितों में रोटी-बांटू/ अम्बेडकर का मकसद है*

*कोई हाथ न फैलाए/ और कहता हूँ/ वहां/ हे भगवान/ घर हो तो ऐसा''* [2]

सत्य प्रकाश की कविता 'मैं' कौन हूँ में दलित वर्ग के पहचान के संकट को अभिव्यक्ति दी गयी है। हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य में दलित वर्ग हिन्दुओं का साथ देता है, परंतु जब वह हिन्दुओं में रहना चाहता है तो वह हक उससे छीन लिया जाता है-

*"मुसलमान चुप्पी साध लेता है/ हिंदुओं का आपसी मामला बताकर*

*इस तरह लुटता-पिटता रहता हूँ मैं/ हिंदुओं के हत्थों मार खाता रहता हूँ।*

*मुसलमानों के हाथों पर समझ नहीं पाया आज तक/ आखिर मैं कौन हूँ"* [3]

अपनी दूसरी कविता 'वक्त' में सत्य प्रकाश 'वक्त हर गम भुल देता है या हर जखम भर देता है' इस सत्य को पूरी तरह खारिज करते हैं क्योंकि दलितों का जीवन दुख का पर्याय है जिसमें वक्त का वश नहीं चलता।

राजेश चन्द्रा की कविता 'विडम्बना' भारतीय समाज में व्याप्त असमानता को दर्ज करती है। इसमें कवि कहते हैं कि भारतीय समाज को पचास साल पुराने संविधान की समीक्षा के लिए समितियां गठित की जाती हैं। परंतु पांच हजार साल पुरानी किताबों की समीक्षा की गुंजाइश नहीं है, यह भारतीय समाज का कैसा दोगला पन है।

---

[1] हंस अगस्त, 2004, पृष्ठ-190

[2] हंस अगस्त, 2004, पृष्ठ-191

[3] हंस अगस्त, 2004, पृष्ठ-192

दिसंबर 2007 का अंक लोकप्रिय दलित साहित्य के विशेषांक के रूप में छपा जिसमें ए.आर.अकेला, गुरू प्रसाद मदन आदि के लोकगीतों का प्रकाशन हुआ। इन लोकगीतों को देखकर यही लगता है कि हिंदी साहित्य की तरह हिन्दी दलित साहित्य की लोकप्रिय धारा काफी समृद्ध है। ए.आर.अकेला के लोकगीतों में दलित जागृति कूट-कूट कर भरी हुई है-

*"जाग जाओ पिछड़ों अब ये समय कह रहा है/ तुम्हें सोते सोते बहुत साल बीते वामन की सदी तुम हो जौहर दिखाओ/ चन्द लोगों से क्यों शोषण कराओ जुल्म की गाड़ी में जुतो न जुताओ/ वजन ढोते ढोते"* [1]

वे कहते हैं कि दलितों में यह जागृति बाबा साहब अम्बेडकर के प्रयासों से आई है अतएव बाबा साहब को हमेशा याद रखना चाहिए।

इसी तरह कवि गुरू प्रसाद मदन भी अपनी कविताओं के माध्यम से दलितों को सवर्णों के छल में न फंसने हेतु आगाह करते हैं।

अक्टूबर 2008 के अंक में छपी पवन करण की कविता 'सीवर लाइन' एक ऐसे समूह की पीड़ा को अभिव्यक्त करता है, जो वर्ग मैला उठाने जैसा घृणित कार्य करता है। यह पढ़कर भारतीय समाज की ऐसी अमानवीयता से मन घृणा से भर गया-

*''गू तसले से रिसकर देह पर/ टपकते हुए चलने और*
*सिर पर सवार रहने का सामंती संस्कार भूलता नहीं।''* [2]

इसी अंक में छपी सुधीर कुमार 'परवाज' की कविता 'गाय और मैं' इस अमानवीयता की पुष्टि करती है कि भारतीय समाज में दलित वर्ग गाय से नीचा है।

हंस 2001 से 2008 तक के अंकों में छपे दलित कवियों ने अपनी-अपनी कविताओं के माध्यम से सामाजिक, ऐतिहासिक, वर्णव्यवस्था, धर्म, संस्कृति, राजनीति में दलितों के प्रति होने वाले अन्यायों का मुंह तोड़ जवाब देकर खण्डन किया है और मानवता का पाठ सिखाया है। दलित कविताएं दलितों की यथास्थिति से विद्रोह की कविताएँ हैं।

---

[1] हंस दिसम्बर, 2007, पृष्ठ-33

[2] हंस अक्टूबर, 2008, पृष्ठ-51

दलित कवियों ने यथार्थता पर बल देकर सवर्णों की कल्पना को नकारा है और दलित कवियों की भाषा पर अश्लीलता का आरोप लगाने वाले सवर्ण साहित्यकारों का खंडन भी किया है, और दलितों में उभरने वाले गांधीवादी हरिजन एवं अम्बेडकर वादी दलित के अंतर को भी दिखलाया है। कुल मिलाकर हंस में छपे दलित कवि एवं उनकी कविताएँ अपने नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों पहलुओं के साथ समृद्ध रूप में उपस्थित हैं।

### ( ख ) दलित आत्मकथाएँ

आत्मकथा का अर्थ है अपनी कथा। जब कोई महान व्यक्ति अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं का श्रृंखलाबद्ध विवरण स्वयं लिखता है, तब उसे आत्मकथा कहा जाता है। परंतु दलित आत्मकथाएँ पारंपरिक आत्मकथाओं से भिन्न हैं, इनमें किसी महान व्यक्ति की आत्मकथा न होकर शोषित, दमित, पीड़ित अपमानित दलितों द्वारा भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति है। दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति-विशेष के अनुभवों के साथ-साथ दलित समाज के सच को भी अभिव्यक्त करती है। वैसे भी आत्मकथाएँ उद्देश्य परक होती हैं। सामान्यतया जब लेखक यह महसूस करता है कि उसने जो जिया हैं, व्यक्तिगत संघर्षों से जो सीखा है, उससे वह समाज को कुछ नया दे सकता है, तभी वह आत्मकथा लिखता है। दलित आत्मकथाओं के महत्व को रेखांकित करते हुए कथाकर राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि *"यह संयोग नहीं है कि दलित और स्त्री साहित्य भी प्रथमतः अपनी आत्मकथाओं को अपना प्रस्थान विंदु मानते हैं दलित आत्मकथाएँ अपनी यातनाओं की सीधी सपाट और इकहरी कथाएँ हैं, और उस बिंदु पर खत्म होती हैं कि दलित नायक अपनी यातनाओं को लगभग अपनी भाषा में कह सकने का साहस जुटा सका है।"*[1]

दलित आत्मकथाएँ 'मेरा भारत महान एवं भारतीय परंपरा के मूलतत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को सिरे से खारिज करती हैं। दलित समाज इन सब नैतिकताओं, मूल्यों से बाहर हाशिये का समाज है, उन्हें सवर्णों द्वारा प्रताड़ित कर सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक सुविधाओं से वंचित कर हाशिये पर छोड़ दिया जाता है। जातिवाद, छुआछूत के

---

[1] *हंस दिसंबर, 2006 पृ. 8*

नाम पर उनकी संवेदनाओं को कुचल दिया जाता है, और दलितों को नारकीय जीवन जीने पर विवश किया जाता है, क्योंकि उनका सारा श्रम जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को जुटाने में ही खप जाता है। दलित आत्मकथाएँ इसी वर्चस्ववादी सवर्ण संस्कृति का भण्डाफोड़ करती हैं।

दलित आत्मकथाओं की सबसे बड़ी देन दलितों में जागृति लाना और उन्हें प्रेरणा देना है। क्योंकि दलित समाज समुचित विकास की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित है। ऐसे में अधिकाशं व्यक्ति या तो परिस्थितियों से समझौता कर लेते हैं, या संघर्षों को मंजिल तक नहीं ले जा पाते। ऐसे लोग कम होते हैं, जो संघर्षों से जूझते हुए समाज में कोई मुकाम बना लेते हैं। ऐसे लोगों का आत्मसंघर्ष भले ही कोई ऐतिहासिक महत्व न रखता हो लेकिन विषम परिस्थितियों में संघर्ष करने वालों के लिए उम्मीद की किरण जरूर पैदा करता है, उन्हें प्रेरणा प्रदान करता है। श्यौराज सिंह बेचैन के शब्दों में, "*दलित आत्मकथाएँ सवर्ण समाज को संबोधित संवाद हैं। इसमें मानवीय दायित्वबोध से भरे अनुभवों की आग है। किंतु अपील की शक्ल में यह विचारों की वह मशाल है जिसे पिछली पीढी अगली पीढ़ी को इस उम्मीद से हस्तगत करती है कि वह मुक्ति की राह रोशन करती रहे।*"[1]

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के ऐसे दस्तावेज हैं जो दलित जीवन की ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करते हैं। लेखकों ने अपने अनुभवों को प्रामाणिक दस्तावेजों का रूप दिया है जो कि दलित-चिंतन की आधार भूमि तैयार करते हैं। उन्होंने अपने चिंतन की आग में अनुभवों को तपाकर, विश्लेषित करके इस तरह संयोजित किया है कि पाठक उससे दलित जीवन के बारे में अपना एक मत बना सकें, उसे जान व समझ सकें। लेखकों के अनुभव पाठकों-चिंतकों को आधार प्रदान करते हैं, जिससे कि वे इन अनुभवों के आधार पर कोई दृष्टि विकसित कर सकें। दलित चिंतन के लिए दलित आंदोलन के लिए तथा दलित के बारे में चिंतन के लिए ये अनुभव महत्वपूर्ण हैं। ये आत्मकथाएँ किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं का विवरण मात्र नहीं हैं, और न ही दलित जीवन का यथातथ्य चित्रण मात्र हैं, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि से अनुभवों व घटनाओं का

---

[1] *हंस 'अगस्त 2004, पृ. 106*

सृजनात्मक संयोजन है। इन अनुभवों को लिखना सृजन की पीड़ा को समेटे हुए है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अनुसार- *"आत्मकथा लिखने की पूरी प्रक्रिया जीवन की पीड़ाओं, असहनीयता और तीक्ष्ण अनुभवों से लेखक को पुनः साक्षात्कार करा देती है। स्मृतियाँ खुलने लगती हैं, लेकिन वर्तमान में रहते हुए भी अतीत पीछा नहीं छोड़ता। स्वयं परत-दर -परत उधेड़ते हुए कई बार लगता है कितना दुखदायी है यह सब जरा सोच कर देखें।"*[1] अतएव वंचितों-दलितों की सच्चाई व्यक्त करती ये कथाएँ मात्र आत्मकथ्य नहीं, बल्कि मानवता के स्वस्थ निर्माण हेतु रची गई कथाएँ हैं। इसी मानवता के निर्माण में कथाकार राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित 'हंस' पत्रिका का महत्वपूर्ण योगदान है। हंस ने समय-समय पर दलित आत्मकथाओं के अंशों को छापा है। उनके द्वारा समाज से प्रश्न पूछे गये हैं। इन आत्मकथांशों के माध्यम से दलितों की स्थिति-परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया गया है जो भारतीय समाज व्यवस्था की सच्चाई का बयान करती हैं।

हंस पत्रिका ने जुलाई 2001 के अंक में श्यौराज सिंह 'बेचैन' द्वारा अनूदित दलित लेखक हजारी की आत्मकथा 'कर्मवाद' से परिचय कराया। यह आत्मकथा स्वतंत्रता पूर्व की दलितों की परिस्थितियों को दर्शाती है। दलित लेखक हजारी की आत्मकथा 'कर्मवाद' हिन्दी दलित आत्मकथाओं में पहली आत्मकथा मानी जा सकती है। ग्रेट ब्रिटेन से प्रकाशित इस पुस्तक का कापीराइट 1951 The Bannisdale Press के पास था। हजारी का मूल नाम इतवारी था। उनका जन्म हसनपुर (मुरादाबाद) में हुआ और मृत्यु 1960 में लंदन में हुई। हजारी की बहन शांति से डा. रजत रानी की हुई बातचीत के दौरान शांति ने बताया कि, भाई साहब ने अपनी आत्मकथा दूसरा भाग भी लिखा है, जो अभी अप्रकाशित है, उन्हें अपने लिए 'हरिजन' शब्द पसंद नहीं था, इसलिए उन्होंने आत्मकथा में हरिजन शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उस समय भारत में उनकी आत्मकथा को 'हरिजन की राम कहानी' कहकर उनका मज़ाक उड़ाया गया था।

हजारी जी की 'कर्मवाद' पढ़कर लगता है कि दलितों के समक्ष जो विषमताएँ, समस्याएँ आज हैं, वहीं स्वतंत्रता पूर्व भी थीं। वही जाति का दर्द, छुआछूत का दंश, जूठन पर जीना, अवशिष्ट पहनने व हाशिए पर रहने के लिए दलित समाज अभिशप्त

---

[1] *हंस दिसंबर, 2006 पृ. 66*

था। जहाँ दलित वर्ग इन वजहों से हिंदुओं से अलग था, वहीं उनके द्वारा बनाई गयी परंपराओं, रीतियों का भरपूर निर्वाह करता था *"हांलाकि जाति के रूप में अछूत हिंदुओं से एकदम पृथक हैं, पर उनके नैतिक विचार उसी तरह के हैं जैसे हिंदुओं की चार प्रमुख जातियों (वर्णों) के हैं। हिंदू विश्वास के अनुसार यदि एक व्यक्ति विवाहित है तो उसका जीवन इस पृथ्वी पर तब तक पूर्ण नहीं, जब तक वह पिता होने के कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता जिसमें एक बेटा अवश्य हो, जिससे पीढ़ी दर पीढ़ी वंशानुक्रम चलता रहे, सभी वर्गों के हिंदू परिवारों में यह विश्वास अत्यंत मजबूत है।"* [1] हजारी की सौतेली माँ के साथ यही पितृसत्तात्मक व्यहार हुआ था, उनके आठ बच्चे हुए थे पर सबकी मृत्यु हो गयी तो हजारी के पिताने वंश बढ़ाने के लिए दूसरी शादी कर ली।

ऐसी ही दूसरी हिंदू परंपरा 'अतिथि देवो भव' का मंत्र सवर्णों का हैं, परंतु इसका व्यवहारिक निर्वाह तो दलितों, वंचितों द्वारा किया जाता था। वे धनी लोगों की अपेक्षा ज्यादा आत्मीयता से अतिथि सत्कार करते थे जिससे वे प्राय: आर्थिक भार से दबे रहते थे।

कुछ हिंदू परंपराएँ ऐसी थी, जो दलितों के लिए लाभदायक थी, जैसे, सूर्य-ग्रहण, चन्द्रग्रहण, शादी-व्याह, मृत्यु, ये सब दलितों के लिए किसी उत्सव से कम नहीं थे, क्योंकि ये कुछ अवसर ही उनकी संपन्नता के स्रोत थे। परंतु वास्तव में इन अवसरों पर भी दलित वर्ग सवर्णों द्वारा अपमानित ही किये जाते थे। हजारी जी लिखते हैं-*"जैसे ही बारात आरंभ होती, हम पहले से ही अपने-अपने घरों में घुस जाते थे। (ताकि किसी के शरीर पर हमारी परछाईं न पड़े) वैसे बारात के मुखिया हमारी ओर देखते। इसके पीछे निहितार्थ यह होता था कि ऐसे समय पर दूल्हा की ओर आने वाली हर बुराई (जैसे नज़र लग जाना) आदि दूल्हे के ऊपर न्यौछावर करके हमारी ओर फेंके पैसों के साथ हर बीमारी हम अछूतों के घर चली जाय और दूल्हें को कोई हानि न पहुँचे।' इसी तरह सवर्णों की मृत्यु पर भी 'कफन शव से उतार कर अछूतों' को दे दिया जाता था, किसी-किसी शव पर अधिक चादरें और पैसों की आमदनी हो जाती थी, यानि सवर्णों का हर एक मान्यताओं, वस्तुओं पर पहला अधिकार था, यदि उनसे कुछ बच जाता तो उस बचे खुचे का मालिक*

---

[1] *हंस जुलाई, 2001 पृ. 8*

*दलित समाज होता था, इस पर 'हजारी' इस भारतीय समाज व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं कि, "हम वर्ण समाज की बुराईयों का ऐसा कूड़ा घर थे, जो बने ही थे इसे ढोने के लिए"* [1] दलितों के देवी-देवता भी हिन्दुओं के देवी-देवताओं की तरह थे। अंतर केवल इतना था कि उनकी कल्पनाएँ दलित अपनी जाति में से करते थे उदाहरणस्वरूप चमारों के लिए चमरइया मइया आदि और उन्हें प्रसन्न करने के लिए अन्न, फूल और रक्त बलि भेंट की जाती थी। इन सब मान्यताओं को देखकर यही लगता है कि दलित वर्ण व्यवस्था के मुताबिक चाहें अवर्ण हों, परंतु हिंदू परंपराएँ निभाने में वे पक्के हिन्दू थे। दलित साहित्य दलितों को इन्ही हिंदू परंपराएँ से मुक्त कराने हेतु प्रयासरत है।

हजारी अपनी आत्मकथा 'कर्मवाद' में बताते हैं कि दलित चाहें गांव में हो या शहर में, उनके काम में समानता होती थी। काम वही था झाड़ू लगाना सफाई करना, मरे हुए मवेशियों को उठाना खाल खींचना उनके मांस को पकाकर खाना उनके जीवन का अभीष्ट अंग बन चुका था। हजारी के अनुसार- *"मुर्दा पशुओं की ओर हम उसी तरह ताकते थे जिस तरह मुर्दा मवेशी की ओर गिद्ध दृष्टि जमाए रहते हैं इस दृष्टि से वहाँ गिद्ध और अछूत में कोई अंतर नहीं था।"*[2]

हजारी की आत्मकथा में एक सच और दिखाई देता है। हांलाकि दलितों को उस समय सवर्णों से ज्यादा अंग्रेज संवेदनशील दिखाई पड़ते थे, पर जहाँ तकनीकी विकास के जरिये दलित उत्थान का सवाल था, वह गलत था क्योंकि अंग्रेजों ने किसी भी वस्तु का निर्माण अपने फायदे के लिए किया न कि भारतीयों के लिए। हजारी के शब्दों में- *"1857 के विद्रोह तथा अब रेलों की आने की घटनाओं ने ग्रामीण जीवन की प्रसन्नता खत्म कर दी है। ऐसा समझने के कुछ कारण थे, क्योंकि इन विकास योजनाओं के कारण नए टैक्स लागू हो गये थे। ये टैक्स न केवल भूस्वामियों पर थे अपितु हम अछूतों पर भी लगे थे।"*[3]

हजारी की आत्मकथा कर्मवाद स्वतंत्रता पूर्व के दलित समाज की झलक देती है। उस समय हिंदू परंपराओं जैसे पितृसतात्मकता, देवी-देवताओं में विश्वास, बलि प्रथा

---

[1] *हंस जुलाई, 2001 पृ. 38*

[2] *हंस जुलाई, 2001 पृ. 38*

[3] *'हंस' जुलाई, 2001 पृ. 40*

दलितों में भी प्रचलित थे, हजारी की आत्मकथा कर्मवाद इस अर्थ सार्थक है, जबकि हजारी और उनका परिवार ने जातिवाद, छुआछूत से जूझते हुए एक सम्मानपूर्वक जीवन जिया। 'कर्मवाद' की महत्ता को समझते हुए हंस के पाठक बाबूलाल माली ने 'अपना मोर्चा' में लिखा- *"श्यौराज सिंह बेचैन से निवेदन है कि हजारीजी की आत्मकथा को आगे भी हंस में प्रकाशित करवायें ताकि हजारों पाठक एक अछूत भाई के जीवन संघर्ष की गाथा को पढ़ सकें, 'कर्मवाद' की कथा आजादी से पहले की कथा है।"*[1]

हंस ने प्रसिद्ध दलित लेखक सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' दोनों आत्मकथाओं को छापा है। उनका पहला आत्मकथांश अक्टूबर 2001 के हंस में 'मुंह से निकली चीख और आंखों से आंसू' 'तिरस्कृत' से लिया गया है। इसमें सवर्णों के सामंती चरित्र को उभारा है। सवर्ण वर्ग दलितों में ही किसी को बहला फुसलाकर दलितों के खिलाफ खड़ा कर देते हैं। इस आत्मकथांश में ठाकुर लटूरी सूरजपाल चौहान के ताऊ खचेरा को सारे सामंती अधिकार देकर उसे घृणित कार्यों के लिए इस्तेमाल करता है। *'गांव के बसीठों ने ताऊ खचेरा को ऐसे ही घृणित व अपमानजनक कार्य कराने के लिए तैयार कर रखा था। गांव के दलितों की भरी पंचायत में मुंह के बाल उखाड़ना, कालामुंह करना, मुंह पर थूकना' व जूते लगवाने जैसे कार्य करवाते थे। गांव के सभ्य लोगों ने ताऊ खचेरा से ऐसे कार्य करने के बदले ही बलार होने की पदवी दे रखी थी। मेरी ननिहाल नौगवा में मेरे नाना गोकुल को भी इसी नाम से पुकारते थे- गोकुला बलार या बलार भंगी।''*[2] *सूरजपाल चौहान इसके माध्यम से दलितों की एकता तोड़ने वाली सवार्णों की साजिश का पर्दाफाश करते हैं। कामगार अपनी बीमार पत्नी के लिए शहर जाता है जिसके कारण वह ठाकुर लटूरी के खेत में काम करने नहीं जा पाता तो भरी पंचायत में ताऊ खचेरा लटूरी के चढ़ाने पर निर्दोष समय को पीटता है। इसके बादले गांव के सारे दलित मिलकर खचेरा को पीटते हैं, मामला पुलिस तक जाता है, पुलिस को पूछ-ताछ में ठाकुर की बयानबाजी ताऊ खचेरा के होश उड़ा देती है। ठाकुर लटूरी कहता है- ''थानेदार साहब, या खचेरा ने इन बेचारो चमारों को जीनों हराम कर रखो है....लाठी और ताकत के*

---

[1] *'हंस' सितंबर, 2001 पृ. 8*

[2] *हंस अक्टूबर, 2001 पृ. 36*

*दम पर जब चाहें हमला बोल देता है, वा दिन भी मैंने बहुत समझाओं पर यह माने तब ना ...बिना बात के जूता उठाकर सुमरू पर पिल पड़ा।''* [1] लटूरी की यह पैतरे बाजी भान कराती है कि सवर्ण वर्ग दलितों के साथ तभी तक भाई चारा रखता है, जब तक उनका काम पूरा नहीं हो जाता है, नहीं तो वे कब दलितों के साथ विश्वासघात कर बैठें पता ही नहीं चलता। ठाकुर लटूरी के घर दूध का बेला पीकर एवं उसकी मीठी-मीठी बातें सुनकर खचेरा समझ बैठा था कि वह उसका सबसे बड़ा हितैषी है। परंतु लटूरी जैसे शोषकों का सिद्धांत है 'इस्तेमाल करो और फेंक दो' खचेरा लटूरी के लिए सिर्फ उसके शोषण और अन्याय का औजार था और कुछ नहीं। सूरजपाल चौहान का यह आत्मकथांश 'फूली-फूली फिरै चमाइन, ठाकुरे ओनका मौसी कहें।' इस गलत फहमी को दूर करती है।

सूरजपाल चौहान का दूसरा आत्मकथांश 'जो कहा नहीं गया' उनकी दूसरी आत्मकथा संतृप्त से लिया गया है। अप्रैल 2005 के अंक में छपा वह आत्मकथांश दलित समाज को एक नयी सच्चाई से रूबरू कराता है। इसमें चौहान जी अपने जीवन के जिन पहलुओं एवं विवशताओं को व्यक्त करते हैं, वह एक साहसिक कदम है। वैसे हर दलित को भूख मिटाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है, पर भूख मिटाने के लिए बालक सुजपला द्वारा जो श्रम किया गया वह मन को झकझोरने वाला है। बालक सुजपला का बाल जीवन सूरदास द्वारा रचे गये कृष्ण के बाल जीवन पर कटाक्ष करता है। यहाँ पर बालक सृजपाल अपनी भूख मिटाने के लिए माँ, बाबा से जिद नहीं करता, बल्कि वह स्वयं भूख मिटाने के लिए अभिशप्त है। उसके भूख का दाम लगाने वाले खरीदार उससे घृणित कार्य करवाते हैं। वह रूसी मैडम दो टुकड़े ब्रेड और मक्खन के एवज में बालक सुजपला से अपनी देह की मालिश करवाती है और दूसरी तरफ उसका अपना मामा मुंशी दो बासी रोटी और दो टुकड़े सुअर के मांस के बदले उससे हस्तमैथुन करवाता है। इस आत्मकथांश का सबसे बड़ा कारूणिक दृश्य वह है, जब सूरजपाल सुखराम का बचा-खुचा जूठन खाता है। तब जतन प्रकाश कहती है- *"सूरजपाल तू तो बहुत गंदा है, तेरे आगे यदि गू पर बूरा डालकर रख दिया जाए तो तू उसे भी खा जाएगा।"*[2] यह है भूख से बेहाल बच्चे की मर्मांतक त्रासदी।

---

[1] *वहीं, पृ. 36*

[2] *हंस अप्रैल, 2005 पृ. 39*

यहाँ पेट की भूख के बरक्स शारीरिक भूख भी दिखाई देती है। यह हम बालक सुजपला के विधुर बाप के किस्से में देख पाते हैं। सुजपला की माँ की मृत्यु के बाद सूरजपाल के पिता की दूसरी शादी नहीं हो पाती तो वह अपनी यौनेच्छाओं को मिटाने के लिए पड़ोस की स्त्री रामो से शारीरिक संबंध स्थापित करता है। एकबार जब सुजपला के पिता रामो के साथ अंतरंग क्षणों में होता है तो सुजपला के उसी समय पहुँचकर रोटी मांगने पर वह कहता है- *'ठहर साले, तुझे अभी पकवान बनाकर खिलाता हूँ कहकर उसकी लात घूसे से पिटाई करने लगता है।"*[1] यहाँ दलित लेखक सूरज बड़त्या बेटे की भूख को मार्क्स के दर्शन और पिता की शारीरिक भूख को फ्रायड के दर्शन से जोड़कर देखते हैं। वे लिखते हैं- *"यह कोई सामान्य घटना नहीं है, बाप और बेटे दोनों की स्थितियों को गहराई से समझने के लिए आपको फ्रायड और मार्क्स के दर्शन को सामने रखना पड़ेगा, न यहाँ बाप ही दोषी है और न बालक सुजपला। सैक्स और पेट की आग दोनों ही मनुष्य जीवन के लिए अनिवार्य हैं। एक तरफ है भूख से विलखते बालक सुजपला की मर्मांतिक कारूणिक दास्तान तथा दूसरी तरफ है पत्नी विछोह के कारण शरीर की जैविक क्रियाओं की पूर्ति करता बाप। दोनों ही स्थितियाँ आपस में टकराकर एक नए विमर्श की प्रस्तावना करते हैं।"*[2] इस पर यदि लोग अश्लीलता का आरोप लगायें तो उन्हें सबसे पहले अपने ग्रंथों को जांच-परख लेना चाहिए, क्योंकि उनके धर्म ग्रंथ किसी पाकेट बुक्स से कम नहीं हैं।

हंस दिसंबर 2005 के अंक में छपा सूरजपाल चौहान का आत्मवृत 'माँ और मैं' भी उनकी आत्मकथा 'संतप्त' से ही लिया गया है। इसमें चौहान जी ने अपनी मां के साथ बिताये हुए पलों को संजोया है। इसमें सबसे दु:खद पल वह है जब ठाकुर जयसिंह उनकी मां के साथ बलात्कार करने की कोशिश करता है और सूरजपाल कुछ कर नहीं पाते। यहाँ पर डा. धर्मवीर ने सूरजपाल की इस छटपटाहट को पं. जवाहर लाल नेहरू के छटपटाहट से जोड़ा है। जब पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपनी मां को पुलिस द्वारा बेतों से मारे जाने की खबर सुनी तो उन्होंने कहा था कि- 'मैं' सोचने लगा कि अगर मैं वहाँ होता

---

[1] *'हंस' अप्रैल, 2005 पृ. 39*

[2] *जयप्रकाश कर्दम (सं.): दलित साहित्य 2006, पृ. 74*

तो क्या करता, मेरी अहिंसा मेरा कहाँ तक साथ देती, मुझे डर है कि वह ज्यादा हद तक मेरा साथ नहीं देती। क्योकि वह दृश्य शायद मुझे उस पाठ को बिल्कुल भुला देता जिसे सीखने की कोशिश मैंने बारह बरस से भी ज्यादा समय से की थी और उसका मुझ पर या मेरे राष्ट्र पर क्या असर पड़ता इसकी रत्तीभर परवाह न करता।"[1] यदि इस पर नेहरू जी की यह प्रतिक्रिया थी तो जरा सोचिए सूरजपाल चौहान पर क्या बीती होगी। वे लिखते हैं- '*ठाकुर जयसिंह अपने दोनों हाथों से मां को दबोचे हुए था। मां भेड़िये के पंजों में फंसी हाथ पाव पटक रही थी मां की हालत देख मैं दहल गया मां का आंचल ठाकुर ने खींचकर दूर फेंक दिया था...मैं था तो बालक ही लेकिन उस समय मेरा खून खौल उठा....बिना देर किये मैंने पूरी ताकत से ठाकुर की पीठ और कमर पर झाड़ू बरसानी शुरू कर दी, झाड़ू की लगातार मार से ठाकुर तिलमिलाकर रह गया और उसकी पकड़ ढीली हो गयी और मां उसकी चंगुल से छूटकर दूर हो गयी।*" [2] इसके बाद सूरजपाल चौहान लिखते हैं- 'मैं कई दिनों तक यही सोचता रहा कि जयसिंह ने मां के साथ ऐसा क्यों किया? मैं अपनी बाल बुद्धि पर जोर डालता और सोच-सोचकर रह जाता' इस पर यदि मुशर्रफ आलम जौकी यह कहें कि - 'मां और मैं' से जुड़ी 'संतप्त' की कथा साहित्य के आधारभूत सिद्धांतों में किसी बड़े फलक का इजाफा नहीं करती' किसी अमानवीय प्रतिक्रिया से कम नहीं है। यह तो उन्हीं सवर्ण संस्कृति की सोच वाले मठाधीश आलोचकों में से हैं, जो दलित साहित्य में कल्पना और फैंटेसी ढूढ़ते हैं, जिन्हें शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा में उनकी मां के बलात्कार वाले 'सीन' सुंदर लगते हैं, उससे झुँझलाहट नहीं होती, खीझ नहीं मचती उनके मन में। ऐसे लोग संवेदन हीनों की तरह यह मान बैठे हैं कि दलितों में तो यह सब होता रहता है, दलित समाज में यह आम बात हैं।' दूसरी तरफ यह आत्मकथांश इस बात को रेखांकित करता है कि यह आप आर्थिक रूप से समृद्ध हैं तो हर व्यक्ति आप से सहायता मांगेगा तब वह उसमें छूत-अछूत कुछ नहीं देखता। जो पंडित हरिचरन बचपन में जानवरों का जूठा पानी पीने से सूरजपाल चौहान की पिटाई करता है, वहीं पं. हरिचरन अपने बीमार पोते को बचाने के लिए सूरजपाल से सहायता मांगता है। इस पर वे लिखते हैं- "*नफरत से*

---

[1] *जवाहर लाल नेहरू, मेरी कहानी, लेखक (हिंदी संपादक) हरिभाऊ उपाध्याय, पृ. 469*

[2] *हंस, दिसंबर, 2005, पृ. 51*

*नफरत कभी खत्म नहीं होती, नफरत हमेशा प्रेम से खत्म होती है। पर इस प्रेम के लिए सामाजिक बराबरी बहुत जरूरी है। मेरी आर्थिक ऊँचाई ने पंडित हरिचरन और मेरे बीच की खाई को पाट दिया"* [1]

तीसरी आत्मकथा नवेन्दु की 'रूकी हुई रोशनी' नाम से हंस के मार्च 2002 के अंक में प्रकाशित हुई। यह आत्मकथा प्रश्न उठाती है कि जातिवाद दलितों की जिंदगी में जोंक की तरह है, एकबार पकड़ी तो छोड़ने का नाम ही नहीं लेती, ताउम्र बनी रहती है। यह आत्मकथा एक ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा है जो अपनी मेहनत के बलबूते पर नौकरी हासिल करता है, परंतु उस पर लगी जाति की मुहर उसे बार-बार परेशान करती है। जाति के कारण लेखक को पहली नौकरी छोड़नी पड़ती है।[2] लेखक पहली नौकरी छोड़ते हुए कहता है- *"मैंने वह नौकरी छोड़ दी, मैंने तीन महीने का वेतन भी छोड़ दिया, मैंने अपना वह एक मात्र सहारा छोड़ दिया, मैंने वह सब कुछ छोड़ दिया, पर उसके बदले में जो कुछ उस दिन मैंने पाया वह उन सबसे कहीं बहुत बड़ी चीज थी।"* [3] परंतु जब वह इसी चीज को देहरादून में अपने पिता के साथ रह रहे मोचियों में ढूढ़ता है, तो उसे निराशा हाथ लगती है। *"मैंने अनुभव किया कि वे जान बूझकर बाबा को नीचा दिखाने के लिए आमदनी की बातें करते हैं। ताकि लगे कि देख हम काम भले ही नीचा करते हैं पर पैसे कितने ज्यादा कमाते हैं उन्हें यह कहाँ पता था कि पैसे से बड़ी भी दुनिया में कोई चीज है सम्मान"* [4] लेखक भी अपनी समझ से अपने सम्मान को बचाता रहा, पर पूरी जाति का सम्मान बचाने में वह असफल ही रहता है क्योंकि जहाँ वह पढ़ाता था, वहां की प्रबंध समिति कोटे के आधार पर कोई नया पद सृजित नहीं करना चाहती थी। इसलिए कितने सेक्शन तोड़ दिये गये। छात्रों की संख्या घटा दी गयी, लेखक चालीस सवर्ण अध्यापकों में अकेला अवर्ण अध्यापक था।

यहाँ नियुक्ति में हुई घपलाबाजी देखी जा सकती है, दूसरी बात यह कि पढ़े लिखें लोग भी जातिवाद, छूआछूत आदि मानते हैं, उदाहरणस्वरूप न जाने कितने दलित

---

[1] *हंस, अक्टूबर, 2006, पृ. 86*

[2] *हंस, दिसंबर, 2005, पृ. 52*

[3] *हंस, मार्च, 2002, पृ. 42*

[4] *हंस, मार्च, 2002, पृ. 44*

अधिकारियों के तबादले के बाद वहाँ आये सवर्ण अधिकारियों ने बकायदा उस दफ्तर एवं घर को धुलवाये शुद्ध करवाये बिना पवित्र महसूस नहीं किया। अतएव दलित वर्ग चाहे नीचे कार्य करे या फिर ठाट-बाट से उच्च पदों पर नौकरी करे, सवर्णों की नजर में वे हमेशा दलित ही रहते हैं। उनकी जाति उनके साथ चिपकी रहती है। हंस के मई 2002 'अपना मोर्चा' में असम के पाठक उदयभानु पांडेय ने इस आत्मकथा के बारे में लिखा है- "*नवेन्दु का आत्मकथ्य रूकी हुई रोशनी' पवित्र बाईबिल के बुक आफ जोब की याद दिलाता है, सीधी-सादी शैली और दबी जुबान में लेखक जो आप बीती सुनाता है वह सूरदास की कविता की तरह सीधी चोट करती है। आजकल हिंदी जगत में दलितों के नाम पर काफी कुछ ऐसा छप रहा है जो केवल बाजारू माल है, उन सबसे अलग नवेन्दु की यह रचना लेखक की बौद्धिक ईमानदारी विनम्रता और तेजस्विता के प्रति पाठकों को आश्वस्त करती है इस रचना की सबसे बड़ी विशिषता इसकी वस्तुपरकता है। भोगने वाले प्राणी और सिरजनहारे साहित्यकार के बीच जो लक्ष्मण रेखा है वह धुंधली नहीं होती, इसी कारण उसका स्वर आथेंटिक है।*"[1] यहाँ कहा जा सकता है कि अधिकांशत: दलित साहित्य चाहे दबी जुबान में हो या आक्रोशपूर्ण हो, आप-बीती ही होती है, और आत्मकथा वैसे भी आथेंटिक मानी जाती है, पर ज्यादातर लोगों को दबीं जुबान ही पसंद आती है लेकिन क्यों? जबकि दलितों को खुलेआम प्रताड़ित करने में सवर्णों ने कोई कसर नहीं छोड़ी है।

अगस्त 2004 के दलित विशेषांक में 'स्वानुभूति' नामक अंश में बहुत से दलित लेखकों के संस्मरण, यात्रावृतांत आदि को छापा है, परंतु आत्मकथांश में श्यामलाल जैदिया के आत्मकथात्मक अंश 'एकभंगी कुलपति का बचपन' नामक शीर्षक से छपा है। इस आत्मकथा को पढ़कर यही लगता है कि व्यक्ति चाहे किसी भी जाति वर्ण का हो, अपनी दृढ़ इच्छा और मेहनत के बल पर ऊँचे से ऊँचे पदों तक पहुँच सकता है। उदाहरणस्वरूप प्रथम दलित समाज सुधारक अछूतानंद, प्रथम दलित नेता डॉ. अम्बेडकर, प्रथम दलित राष्ट्रपति के.आर.नारायणन, प्रथम दलित मुख्य न्यायधीश के.जी. बालाकृष्णन, प्रथम कुलपति श्यामलाल जैदिया आदि उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने अन्य दलितों की तरह ही जातिवाद छूआछूत का दंश झेला है, पर ये अपनी मेहनत के बल पर आर्थिक रूप से

---

[1] *हंस, मई, 2002, पृ. 10*

समृद्ध हुए है और सामाजिक प्रतिष्ठा पाई है, परंतु उन्हें उनकी जाति सहित ही सम्मान दिया जाता है- प्रथम दलित कुलपति, प्रथम दलित राष्ट्रपति आदि। अतएव जातिवाद भारतीय समाज व्यवस्था का ऐसा मकड़जाल है जो हमेशा बना ही रहता है।

श्याम लाल जैदिया की आत्मकथा भी अन्य दलित आत्म कथाओं की तरह छुआछूत, जातिवाद, आर्थिक तंगी, सवर्णों के अन्याय, अत्याचार का बयान करती है। जैदिया को भी बचपन में जूठन खाना पड़ा गंदी बस्ती में रहना पड़ा था। परंतु प्रो. जैदिया जी के जीवन में एक घटना घटी जिसे सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक भी कहा जा सकता है। जैदिया जी जब बच्चे थे तब उनकी मां झाड़ू लगाने जाती थी। कभी-कभी वे भी साथ जाते थे। एक दिन मेहरानगढ़ किले से उन्हें और उनकी मां को बेइज्जत कर बाहर निकाला गया था और समय का मोड़ देखें। उसी रजवाड़े के महाराज हनुवंत सिंह ने, जब वे कुलपति बने, उसी किले में सम्मानित किया था, यह जैदिया की मेहनत का फल था कि उन्हें बेइज्जत करने वाला ही फिर उन्हें सम्मानित करने पर मजबूर हुआ। जैदिया लिखते हैं- *"मैं अपने अतीत को याद कर रहा थी जब मैं तथा मेरी मां मेहरानगढ़ किले से निकाले गये थे, अनेक कठिनाईयाँ सही थीं, तथा अछूत होने के नाते लोगों की गालियाँ बर्दाश्त की थी, उसी अछूत भंगी युवक का एक कुलपति के रूप में उसी किले में उसी राजघराने के द्वारा सम्मान किया जा रहा था, यह मेरे जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि थी जो दीर्घकाल तक सुखद रूप में मेरे स्मरण पटल पर रहेगी।"* [1] यहाँ पर वह दृश्य याद आ जाता है जब के.जी. बालाकृष्णन पहली बार अपनी माँ के साथ मुख्य न्यायधीश की कुर्सी पर बैठे थे। वह दृश्य याद दिलाता है कि यदि आप अपनी मेहनत के बूते पर यहाँ तक पहुँचे तो उसमें माता-पिता के त्याग और विश्वास का उतना ही योगदान है जितना आप का। जैदिया के शब्दों में, *"मेरी मां ने सौगंध खाई कि चाहे उसे भीख ही क्यों न मांगनी पड़े वह अपनी बच्चों को अवश्य पढ़ायेंगी।"*

हंस के जून 2005 अंक में प्रकाशित श्यौराज सिंह बेचैन का आत्मकथांश 'राहें बदली कि जीवन बदलता गया' शिक्षा के प्रति श्यौराज सिंह की जीवटता को उजागर करती है। यह आत्मकथा उन तमाम लाचार व शोषितों के लिए उम्मीद की किरण है जो

---

[1] *हंस, अगस्त, 2004, पृ. 22*

तमाम उम्र लाचारी व बेबसी में गुजार देते हैं और कभी नहीं जान पाते कि उनके अंदर भी कोई योग्य प्रतिभा छुपी हुई है। श्यौराज सिंह बेचैन शिक्षा के लिए अपना घर परिवार छोड़ मास्टर प्रेमपाल यादव के घर पढ़ाई के लालच में बेगार करने लगे। उनके इस निर्णय पर उनके लोगों का कहना था कि- *"अरे जाई लम्बरदार की बंधुआ गुलामी कन्नी है, रोज-रोज के मजूरी पसंद नाय है, बापू मरि गओ, ताऊ सड़क पै बैठि के लीतड़ा जूते गांठतु है। बब्बा एरियनु (यादव स्त्रियां) की चाकी पीसतु घूमतु है, गांवभर में, तो जब पिछली सात पढ़ी के खान-दानु ही गुलामी कर रओ है तो जो औलाद यों नाइं करैगी? गुलामनु के गुलाम ही होंगे, आजाद थोड़े ही है जांगे।"* [1] इस पर उनकी मां का कहना है कि - *'आज से मैं समजुंगी कि सौराज मरि गहो, मैंने एक बेटा पैदा ही नांय करो'* फिर पढ़ाई के खातिर उन्होंने मास्टर प्रेमपाल यादव के यहाँ बेगार करने का निर्णय लिया, यह उनके लिए एक साहसिक कदम था। यह आत्मकथा समाज को एक नई दिशा और नई सोच के लिए प्रेरित करती है। मास्टर प्रेमलाल ने भले ही श्यौराज से बेगार लिया, पर उसके बदले उन्होंने श्यौराज को पढ़ाने में, प्रोत्साहित करने में जो मदद की वह देखने लायक है। प्रेमपाल का यह विश्वास कि 'यह लड़का जरूर आगे चलकर कवि बनेगा सभी छात्रों से आगे निकलेगा' जीत गया, शिक्षा के बल पर श्यौराज सिंह बेचैन का जीवन संवरत गया। परंतु इसके पीछे उनका जो संघर्ष है, वह पूरे दलित समाज के लिए प्रेरणादायक है।

श्यौराज सिंह 'बेचैन' का दूसरा आत्मकथात्मक अंश 'यहाँ एक मोची रहता था' नामक शीर्षक से 'हंस' 2007 के जुलाई अंक में प्रकाशित हुई। जिसमें वे अपने कबीर पंथी अंधे ताऊजी के जीवन एवं उनके आत्म संघर्ष को चित्रित करते हैं और साथ में अपना संघर्ष भी वर्णित करते हैं क्योंकि उन्होंने अपने ताऊ के साथ तीन साल बिताया है और मोची का काम किया है। इस आत्मकथा में सवर्णों के काम निकालने के तरीके को देखा जा सकता है। श्यौराज सिंह और उनके ताऊ डिबाई के जिस गली में रहते थे वहाँ लोगों को अपनी दुकानों की रखवाली के लिए इन ताऊ-भतीजे की जरूरत होती थी। इस पर श्यौराज लिखते हैं- *'चूँकि रात को रखवाली करने के लिए सभी को हमारी जरूरत*

---

[1] *हंस, जून, 2005, पृ. 75*

*होती थी। जैसे कुत्ता पालतू नहीं होता तो सभी का होता है, उसी तरह सभी चाहते थे हम उनकी दुकानों की रखवाली करें, इस गरज के लिए हम सभी के थे और दुकानों के मालिक, लुहार, ब्राह्मण, लोधी और मुसलमान थे। उसके उलट हमारा विकल्पहीन स्वार्थ यह था कि रात काटने के लिए हमें थोड़ी जगह चाहिए थी।"*[1] दूसरी तरफ इस आत्मकथा में दलित दर्शन की झलक मिलती है उनके ताऊ जी के भजनों के माध्यम से कबीर के बहाने दलित लोकगीत के माध्यम से ताऊ जी ने कबीर के क्रांतिकारी विचारों का पुनः सृजन किया है- 'संतो बामन बाग उजाड़ा, संतों बामन दशे बिगाड़ा' गाकर सवर्णों की हकीकत को सामने लाते हैं, वे श्यौराज से कहते हैं- 'लल्ला, तू अबई ब्राह्मण के फेर फंदा नात जान्तु है, जो झूठ बोलत हैं, झूठ लिखते हैं, और झूठ ही सिखावत हैं। इनके पोथी पहाड़ा सब झूठ से भरे हैं? सवर्णों ने इसी झूठ के माध्यम से दलितों को ठगा है, उन्हें शिक्षा, धन, भूमि बल आदि से पंगु बना दिया। ऐसे में, दलित साहित्य में आक्रोश, जुझारूपन और विद्रोही तेवर का होना लाजमी हैं। इस आत्मकथा में एक वाकया ऐसा आया जब ताऊ राम बदनी नामक व्यक्ति जो लोधी था, से पैसा मांगने पर वह पैसा नहीं देता और उनकी बेइज्जती भी करता है तो ताऊ-भतीजा दोनों मिलकर उसे पीटते हैं। श्यौराज लिखते हैं- *"यह बात उसके समझ के परे थी कि फुटपाथ पर बैठ फटेहाल ये मोची भी आत्मरक्षा में पलटवार करेंगे। ये भी आत्म सम्मान रखते हैं ऐसे हमलों की तो उसे कल्पना भी नहीं थी। उसकी अपेक्षा थी कि हम पिटें और पिटकर चुप रहें। वह कहने लगा चमार लोधी को मारे यह हमें बर्दाश्त नहीं" चमारों, भंगियों को वे प्रायः रोज ही अपने गांव में पीटते धमकाते रहते थे, पर मजाल है, कभी कोई गर्दन उठाकर बात करे"* [2] यह बदनी के लिए असहनीय था वह दस-बारह गुंडों के साथ जब उन्हें पीटने आया तो उनका बचाव मुसलमानें ने किया। पर इस घटना में दलित साहित्य के बदलाव दृष्टिगोचर है कि कब तक दलित सवर्णों को सहेगा, कभी न कभी तो हाथ उठायेगा ही अपने आत्मसम्मान में। श्यौराज सिंह 'बेचैन' की दोनों आत्मकथात्मक अंश दलित वर्ग को प्रेरणा प्रदान करती है। पहली यदि शिक्षा के लिए प्रेरित करती है तो दूसरी आत्म सम्मान हेतु संघर्ष की प्रेरणा देती हैं।

---

[1] *हंस, जुलाई, 2007, पृ. 63*

[2] *हंस, जुलाई, 2007, पृ. 69*

हंस 2005 के सितंबर अंक के विशेषांक 'नैतिकताओं के टकराव II' में लेखक दया पवार की आत्मकथा 'अछूत' से, शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमासी' से, पंजाबी लेखक बलबीर माधोपुरी की आत्मकथा 'छांग्यारूक्ख' से एक-एक अंश प्रकाशित किया गया है। इन आत्मकथाओं में दलित स्त्रियों की स्थिति को बड़ी ही शिद्दत से उकेरा गया है। सर्वप्रथम दया पवार अपने आत्मकथांश 'मैं सखू का बेटा हूँ' में समाज में पैठी पुरूष मानसिकता को उजागर हैं। वे बताते हैं कि जो पुरूष अपने घर में, समाज में, नैतिकताओं, मूल्यों की बात करता है, वहीं व्यक्ति वेश्या बाज़ार समर्थन भी करता है। वेश्या बाज़ार किसी भी महानगर का स्थायी केन्द्र होता है। और कोई भी पुरूष चाहे वह सेठ साहूकार नेता हो वह नहीं चाहता वेश्यालय वहाँ से हटे। वे इस धंधे को समाप्त करने के बज़ाय इसका समर्थन करते हैं। इससे पता चलता है कि प्रशासन एवं सरकार में पुरूष प्रधान प्रवृत्ति कूट-कूटकर भरी हुई है। जहाँ तक स्त्री देह की बात है तो हर पुरूष चाहे वह सवर्ण हो या अवर्ण उससे लुत्फ उठाने को तैयार रहता है। कभी-कभी इस चक्कर में पुरूष अपनी पत्नी, बेटी, बहू को भी नहीं पहचानता है। इस आत्मकथांश में दया पवार की मौसी को उसके पति द्वारा वेश्या बनाने की बात कही गयी है। दया लिखते हैं- *'मैं बाहर आता हूँ और सहदबा को खोद-खोदकर पूछता हूँ। वह बताता है -अरे यह तेरी मां की दूध बहन अर्थात् मां एक बाप दो' फिर यह कैसे? इसका उत्तर जब सहदबा देता है, तब मैं अंतर्मुखी हो जाता हूँ। जमना पास ही तंबू में पति के साथ रहती थी, उसके सौंदर्य से पति हमेशा ईर्ष्या करता, उसे पीटता। अंत में उसी ने इसे यहाँ लाकर बेच दिया, अपनी पत्नी भी लोग बेचते, मुझे सच नहीं लगता।'*[1] इस आत्मकथांश में दूसरा वांकया यह कि सयाजी नामक व्यक्ति बहुत दुबला था, परंतु वह उसे हाथ तक नहीं लगाने देती, इसकी चर्चा लोगों में खुलेआम होती है, यह सुनकर औरतें भी सयाजी की मदद करती है। यहाँ पर पितृसत्ता का घिनौना रूप दिखाई देता है पुरूष स्त्री को भोग की वस्तु समझता है, और उसे पूरा करने हेतु नये-नये स्वांग रचता रहता है।

दूसरे आत्मकथांश 'मां एक, पर बाप अलग-अलग' शरणकुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमासी' से लिया गया है। यह अंश दर्शाता है कि दलित औरतों पर

---

[1] *हंस, सितम्बर, 2005, पृ. 56*

ज़मींदारों का जन्मसिद्ध अधिकार है। दलित औरतें अपना एवं अपने बच्चों के जीवन को चलाने के लिए घर से बाहर निकलती हैं क्योंकि खेत तो दलितों के पाास होते नहीं, जमींदारों के पास रहते हैं। इसलिए खेत के मालिक ज़मींदार अपने क्षणिक सुख के लिए 'किसी का भी बसा बासाया घर उजाड़ देते हैं। यदि इस अवैध संबंध में कोई बच्चा होता है तो ज़मींदार और समाज के लिए हमेशा अवैध हो जाता है। शरण कुमार लिंबाले लिखते हैं- *हणमंता ने मसाई के दांपत्य जीवन को तोड़ दिया और अपने नियंत्रण में रख लिया। जैसे कोई शौक से कबूतर पालता हो। दोनों मजे में रहने लगे मसाई गर्भवती हुई, लड़का हुआ। लड़के का बाप कौन हणमंता को मसाई चाहिए थी उसका शरीर चाहिए था, पर संतति? मसाई के उस लड़के के नाम के साथ अगर हणमंता का नाम लग जाता तो उसकी बदनामी होती लड़का बड़ा होकर खेती में हिस्सा मांगे तो? मसाई कोर्ट में गई तो? हणमंता वह सब नहीं चाहता था, पर प्राप्त संतति को कैसे टाला जा सकता है।'* यहाँ वर्णव्यस्था का घिनौना रूप दिखता है कि सवर्ण रखैल तो रख लेते हैं, पर उनसे उत्पन्न संतान को स्वीकृति नहीं देते, हालांकि दलित पुरूषों ने भी अपनी वर्ण संकर संताने सवर्णों के घर छोड़ी हैं, पर बदनामी से बचने के लिए इस सच को दबा देते हैं। पितृसत्ता के कारण औरतों को पुरूषों का शिकार माना जाता है। आजकल भ्रूण हत्या के जितने भी मामले सामने आये हैं, उनकी रजामंदी पुरूषों पर ही निर्भर है। वे चाहे तो स्त्री बच्चा पैदा करे नहीं तो भ्रूण हत्या करे। और दूसरा यह कि बिना बाप के पहचान के बच्चे की पहचान गर्त में है। बच्चे का नाम पिता के वंश, कुल, जाति से जोड़ जाता है। परंतु शरण कुमार लिंबाले इससे वंचित रहे, उनका बाप उन्हें छोड़कर भाग गया। लिंबाले जी ने पितृसत्तात्मक परंपरा को नकारते हुए लिखा है- *"मैं मनुष्य या सिवा मनुष्य शरीर के मेरे पास था ही क्या? यहाँ इस देश में मनुष्य जाति बिरादरी और धर्म से पहचाना जाता है, बाप के नाम से पहचाना जाता है। मेरे पास बाप का नाम नहीं, धर्म और जाति नहीं है, न ही मैं किसी बाप का उत्तराधिकारी हूँ।'"*[1]

*पंजाबी दलित लेखक बलबीर माधोपुरी का आत्मकथांश 'मानववादी थप्पड़' नाम से छपा है। यह अंश हिन्दू समाज के थोथे मूल्यों और धार्मिक आधार पर नैतिकताओं*

---

[1] *सुभाष चन्द्र पृ. 14: दलित आत्मकथाएँ अनुभव से चिंतन, पृ.148*

*के कुपाठ को दिखाता है। हिंदू धर्मावलम्बी किस तरह अनैतिक चीजों को धर्म की आड़ में नैतिक बताते हैं, यह देखने योग्य है। इसमें एक गुरूजी अपनी बेटी और अपने संबंध में कहते हैं-* "मैं पिछले जन्म में याज्ञवल्क्य ऋषि था और मेरी पत्नी गार्गी थी जो अब मेरी बेटी शीला के रूप में मेरे साथ है"[1] गुरूजी के इस कथन को और करीब से देखने पर पता चलता है कि उन्होंने अपनी पुत्री को न विवाहितों में शामिल किया, न ही कुंवारी छोड़ा। इस पर बलबीरमाधोपुरी लिखते हैं- "*इस पुष्टि के बाद ब्रह्मा जी के वे श्लोक मेरी आखों के सामाने आ गये जो उन्होंने अपनी पुत्री पद्मा को संभोग के लिए भरमाने की खातिर उच्चरित किये थे कि संतान प्राप्ति के लिए मां, पुत्री, बहन से सहवास किया जा सकता है, मुझे लगा यही मॉडल उस गुरू के सामने न हो*"[2] यहाँ हिंदू धर्मग्रंथों की नैतिकता का कुपाठ दिखाई पड़ता है। इसलिए जो विद्वान यह कहते हैं कि दलित-स्त्री का लेखन स्त्री-पुरूष संबंधों में अश्लीलता, गाली-गलौच के अलावा कुछ नहीं है तो उन्हें सबसे पहले अपने गिरेबान में झांक लेना चाहिए क्योंकि जिन ग्रंथों को वे धर्मग्रंथों की संज्ञा देते हं, उनमें औचित्य हीन सेक्स की बकवास पाई जाती है। डॉ. तुलसीराम के शब्दों मैं- *यौन शोषण वैदिक नैतिकता का अभिन्न अंग है। क्योंकि कर्मकांडों में हवनकुंड को ही योनि तथा लिंग को हवि माना गया है।*"[3] स्पष्ट है कि सितंबर 2005 के अंक में छपे तीनों आत्मकथांशों में पितृसत्ता पर गहरी चोट की गई है, और सवर्ण एवं दलित के बीच एक नये प्रश्न को उछाला गया है। वह है- विभक्त नैतिकता क्यों?

हंस सितंबर 2006 में छपा दलित लेखक रूपनारायण सोनकर का अत्मकथांश 'नागफनी' साहित्य को एक अलग संघर्ष से रूबरू कराता है। इसके बारे में राजेन्द्र यादव ने अपने संपादकीय में लिखा है- "*इस बार दलित लेखक रूपनारायण सोनकर की आत्मकथा के वे अंग दिये जा रहे हैं, जहाँ हाय मार डाला के चीत्कार नहीं हैं मगर संघर्ष है कि दैनिक जीवन के साथ जुड़ा है। सोनकर की आत्मकथा उस परिवर्तन का हिस्सा है जिसे अंग्रेजी में 'साइलेंट रिवोल्यूशन' कहा जाता है।*"[4] *हिंदी में यह पहली*

---

[1] *हंस सितम्बर, 2005 पृ. 38*

[2] *वही, पृ. 38*

[3] *हंस, अगस्त, 2005, पृ. 25*

[4] *हंस सितम्बर 2006 पृ. 4*

*आत्मकथा है, जिसमें सिर्फ सोनकर के साथ हुए अन्याय, अत्याचार का रोना नहीं है। इसमें पूरे दलित समाज की पीड़ा को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। यहाँ उन दबे कुचले लोगों की पीड़ा को दिखाया गया जो कभी अपनी व्यथा को शब्द नहीं दे सकते । जैसे चाची के सिर पर कुड़हा मइया का कलश रखने भर से गांव के ब्राह्मण द्वारा पिटाई होना, तत्पश्चात दलितों द्वारा एकजुट होकर अपने अधिकार के लिए लड़ना और उसमें सफल होना किसी 'साइलेंट रिवोल्यूशन' से कम नहीं है। और इसमें वर्णित गाय-सुअर का युद्ध तो सवर्ण और दलितों के संघर्ष का भी प्रतीक है। सोनकर लिखते हैं-* गाय के पीछे ब्राह्मण रूपी देवता की सेना थी जिसमें सवर्ण शामिल थे। अपनी कुटिल चालें चल रहे थे। उस महाप्रतापी सुअर को जो वास्तव में दलितों का महानायक था, परास्त करने के लिए नये-नये युद्धों की व्यूह रचना में तल्लीन थे....महानायक सूअर ने ब्राह्मणों की गाय रूपी सेना के छक्के छुड़ा दिये.....यह सब देखकर सवर्ण क्रोधित हो गये, हाथ में बल्लम बरछी और तमंचा लेकर सूअर को मारने गये। दादा, काका, भाई नहीं समझ पा रहे थे। जानवरों के युद्ध में आदमी क्यों शमिल हो गये।[1]

यह दृश्य सवर्णों द्वारा दलितों पर किये गये मनमाने अत्यचार को दर्शाता है। जब सवर्ण दलितों के प्रतीक सूअर की जीत को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो जरा सोचिए दलितों की जीत को कैसे बर्दाश्त करेंगे। पर दलितों की तरफ से आत्मसंघर्ष जारी है। रूप नारायण सोनकर ने अपनी आत्मकथा में पूरे दलित समाज की कथा और संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है।

## ( ग ) दलित कहानियाँ

हिन्दी दलित साहित्य के विकास में दलित कहानियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इसकी शुरूआत हिन्दी साहित्य के आठवें दशक में उभरे समानांतर कहानी आंदोलन से माना जा सकती है। रमेश कुमार ने अपने लेख 'आधुनिक हिन्दी कहानियों में दलित चेतना' में लिखा है, *"आठवें दशक के 'समानान्तर' कहानी आंदोलन के माध्यम से समाज के कमजोर वर्ग*

---

[1] *हंस, सितंबर, 2006, पृ. 38*

*की समस्या को कहानी का केन्द्र बनाया गया। स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद भी निम्न दलित वर्ग का जीवन बद से बदतर होता चला गया है। ऐसी स्थिति में दलित उन्नायकों ने अपनी कहानियों के माध्यम से इस वर्ग के जीवन का यथार्थ निरूपण किया है। इन कहानियों में दलित जीवन की वेदना, निरंतर संघर्ष करते रहने की अनिवार्यता, सुविधाभोगी लोगों के प्रति उनकी विरोधी मुद्रा, प्रतिकूल नारकीय स्थिति में जीने की विवशता और मानवीय अधिकारों की प्राप्ति हेतु आत्मसजगता जागृत हुई है।"*[1] आत्मसजगता की पृष्ठभूमि तैयार करने में 'सारिका' संपादक कमलेश्वर ने दलित साहित्य पर दो विशेषांक दिसंबर 1981 में प्रकाशित कर महत्वपूर्ण कार्य किया। जिसमें मराठी के दलित कथाकारों की कहानियाँ प्रकाशित हुई। तत्पश्चात डा. सूर्यनारायण रणसुभे ने दलित कथाकारों का एक संकलन 'दलित कहानियाँ', शीर्षक से प्रकाशित किया। रमणिका गुप्ता ने 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' कथा संकलन संपादित किया जिसमें पहली बार एक साथ 18 दलित कथाकारों की कहानियाँ संकलित की गईं। जिनमें तीन दलित महिला कथाकार भी सम्मिलित हैं। डा. ए.एन.सिंह द्वारा संपादित 'काले हाशिये पर' कहानी संकलन में हिन्दी और मराठी दलित कथाकारों के साथ सवर्ण कथाकारों की दलित चेतना संपन्न कहानियों को भी संकलित किय गया जिससे इन कथाकारों के सरोकारों को तुलनात्मक दृष्टि से परखा जा सके। उनकी दूसरे कहानी संग्रह 'यातना की परछाइयाँ' में केवल दलित कथाकारों को शामिल किया गया।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक आते-आते दलित साहित्य दलित कहानियों से समृद्ध हो गया। दलित कहानियों के विकास पर जय चौहान लिखते हैं कि - *"कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि दलित साहित्य के अपरंपरागत परिवेश को जीवंत करती कहानियों का जन्म उत्तर भारत में प्रारंभ हो चुका है। आवश्यकता है, तो बस इसे एक रचनात्मक साहित्यिक आंदोलन बनाने की ताकि सदियों से सोया अल्प शिक्षित दलित समाज जागृत हो।"* [2] अतएव बीसवीं सदी के अंतिम दशक तक दलित कहानी ने एक आंदोलन का रूप ले लिया। इस दशक में जिन दलित कथाकारों के संग्रह आए उनके नाम इस प्रकार हैं- 'सुरंग'-दयानंद बटोही, 'चार इंच की कलम'- डॉ. कुसुम वियोगी,

---

[1] तेज सिंह (सं.): अपेक्षा, जुलाई-सितंबर 2004, पृ. 90

[2] तेज सिंह(सं.) अपेक्षा, जुलाई-सितंबर 2004, पृ. 90

'टूटताबहम'-सुशीला टाकभौरे, 'साग'- डॉ. टी.पी.राही, 'आवाजें'- मोहनदास नैमिशराय, 'पुट्स के फूल'- प्रहलाद चन्द्र दास, 'द्रोणाचार्य एक नहीं'रु- कावेरी, 'हैरी कब आएगा'- सूरजपाल चौहान, 'सलाम' - ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि उल्लेखनीय हैं। इन कहानी संकलनों में मानवीय रिश्तों की नई की पड़ताल शुरू हुई। जिसमें दलित समाज की पीड़ा और उनके साथ होने वाले अमानवीय व्यवहारों को दर्शाया गया जो सवर्णों की वर्चस्ववादी संस्कृति में मौजूद विश्वदृष्टि के खोखलेपन की पहचान कराता है। इन संकलनों में गांव शहर में रहने वाले दलितों की परिस्थितियों का बयान मिलता है। इस प्रकार कहानी विधा गल्पात्मक दुनिया से बाहर निकलकर दलितों की यर्थाथपरक दुनिया में कदम रखती है। कहानी के इसी बदलते परिप्रेक्ष्य और दृष्टिकोण को कथाकार राजेन्द्र यादव जी ने रेखांकित करते हुए अपनी संपादकीय में लिखा है- "*पाठक इधर कहानी के साथ-साथ व्यापक कथा-संदर्भों पर अधिक ध्यान देने लगा है। उसे उस समाज का विश्लेषण भी चाहिए जहाँ से कहानी उगती और विकसित होती है। वे उभरती शक्तियाँ क्या हैं जो कहानी को माध्यम की तरह इस्तेमाल करती हैं।*"[1]

हंस में छपी दलित कहानियों में लगभग इसी तरह का परिप्रेक्ष्य देखने को मिलता है। वैसे शुरू से ही दलित कहानियाँ अपने समाज, संस्कृति परिवेश आदि के संदर्भो का बयान करती हैं। हंस ने समय-समय पर दलित कथाकारों को छापा है। इनकी कहानियाँ दलित समाज से जुड़ी सच्चाई को उकेरती हैं। यहाँ पर हम 2001 से 2008 तक के हंस में छपी दलित कहानियों के माध्यम से देखेंगे कि दलित साहित्य का स्वर कितना मुखर हुआ है। हंस के 2001 के अंक में मराठी लेखिका उर्मिला पवार, मराठी लेखक बाबूराव बागूल एवं हिन्दी लेखक हरि भटनागर की कहानियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय रहीं। इन तीनों कहानीकारों ने दलित स्त्री की समस्याओं की तहें खोलने का प्रयास किया है। और साथ ही उसके स्वाभिमान को भी उजागर किया है। मार्च 2001 में छपी उर्मिला पवार की कहानी 'कवच' माँ बेटे के रिश्ते की अनूठी कहानी हैं। इसमें बेटा गौन्या अपनी माँ इन्दिरा के लिए एक ऐसा कवच बनाना चाहता है जिसमें उसकी मां हर तरह से सुरक्षित रहे, वह चाहता है कि उसकी मां आम बेचने न जाए, क्योंकि मां को ग्राहकों द्वारा वही गाली सुननी पड़ती है।

---

[1] हंस, जुलाई 2001, पृ. 7

जिसे सुनने पर उसकी शिक्षिका ने शोर मचाया था। परंतु जब उसकी मां ग्राहकों को उसी अंदाज में वही शब्द वापस कहती है तो उसका मतलब ही बदल जाता है- *"हां रे बाबा, हां चोली के ही, तेरी मां की चोली के हैं ये आम, अच्छे से अपनी मां के आम दबाकर ले जा" इंदिरा के ये शब्द सुनकर शराबी पीछे हटे। हमारी मां के बारे में बोलती है साली-ऐसा कुछ बड़बड़ाते हुए दोनों उठे और पूंछ दबाये कुत्ते की तरह कांय-कांय करते, लड़खड़ाते चले गये.....अवाक् गौन्या अपनी मां की तरफ देख रहा था। मां की चोली, सीता की चोली, एक क्षण में शब्द का अर्थ बदल गया और उसे आश्चर्य होने लगा.....दो तीन दिन से उसने जिन शब्दों की आरी को कर-कर करते हुए अपनी गर्दन पर घूमते देखा था, उन्हीं शब्दों की धार मां ने कुंद कर दी।* [1] *अब उसने जाना कि जिस कवच को वह मां के लिए बनाना चाहता था वह स्वयं मां के अंदर मौजूद है आकाश के जितना विशाल। उर्मिला पवार की यह कहानी स्वाभिमान के साथ जीने की शिक्षा देती है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहे तो इसमें 'साइलेंट रिवोल्यूशन' देखने के मिलता है। यही रिवोल्यूशन उनकी दूसरी कहानी 'भूमिका' में भी देखने को मिलता है। यह कहानी हिंदू धर्म संस्कृति पर व्यंग्य करती है। जो भगवान राम हिंदुओं के पालनहार, दया के सागर, दुख हरने वाले हैं उन्हीं राम के दर्शन हेतु दलितों को जान देनी पड़ी, कितनों ने अपने परिवार गंवाये। अतएव दलितों ने भी राम को खारिज कर दिया। इस कहानी में शिदू राम की भूमिका करने से मना कर देता है क्योंकि कालाराम मंदिर में प्रवेश हेतु उसका पूरा परिवार मारा गया। शिदू कहता है- "मंडली, इस भगवान के लिए जो श्रद्धा आपके मन में है, वह मेरे मन में नहीं है। इस भगवान का नाम सुनते ही मेरे सामने खून से नहाए मेरे चाचा, पागल हुए दादाजी याद आने लगते हैं। इस भगवान में मेरी श्रद्धा नहीं है मैं राम नहीं बनूंगा, राम की भूमिका नहीं करूंगा।"* [2] यह कहानी हिंदू धर्म संस्कृति को नकारती है।

हरि भटनागर की कहानी **'खोट'** एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था पर आक्रोश प्रकट करती है जहाँ पर व्यक्ति का समूचा व्यक्तित्व एक स्थायी रिरियाहट से ग्रस्त याचना की शाश्वत भंगिमा में तब्दील हो जाता है। लेखक यहां पर बार-बार उस बालिका भिखारन से

---

[1] हंस, मार्च 2001, पृ. 168

[2] हंस, नवम्बर 2001, पृ. 23

कहता है कि 'वह रिरियाना छोड़ दे, सीधे-सीधे मांगे, परंतु वह उसी रिरियाहट के साथ हर बार मांगती है। *"लगता था कि रिरियाहट उसके चेहरे का अभिन्न अंग है आंख, कान, नाक, मुंह की तरह जिन्हें हटाने पर वह अधूरी हो जायेगी"* [1] यहां रिरियाहट उस बाल-भिखारन की पहचान भी है और पूरे समाज पर व्यंग्य भी। बिना रिरियाहट के समाज उसे सुनेगा ही नहीं वह चाहकर भी उसे नहीं छोड़ सकती।

तीसरे लेखक बाबूराव बागूल की कहानी 'रस्तेवाली' एक हृदय विदारक कहानी है। इसमें व्याप्त संवदेन हीनता अंदर तक झकझोर जाती है इसमें रस्तेवाली गिरजा अपने बेटे की दवा की खातिर स्वयं को बेच देती है। वह अपना शरीर ग्राहकों के हवाले करती है, पर मन में मातृत्व उमड़ रहा है। वह अथाह यातनाएं अपने बच्चे के लिए सहती है। परंतु वह नहीं जानती थी कि जिसके लिए वह यह सब कर रही है वह इस दुनिया में नहीं है। जब उसे भोगने वाला पैसा नहीं देता तो उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार होती है- *"अगले ही पल में अथाह यातनाएं सहन करने वाली शून्य से भी नीचे जा चुकी उसकी सहनशीलता संताप में बदल गई और उसके शरीर में बिजली की तरह नाचने लगी, अपने स्नायुयों में शक्ति भरने लगी उसकी आंखों में सांप जैसी क्षुब्धता थी, उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया और वह सुरंग की तरह भड़क उठी.....'ये भड़का भड़वे भागता किधर है? पैसा डाल।"*[2] परंतु वह लुटेरा गिरजा को सहज ही धकेल देता है "और वह वात्सल्य से पगलाई दुख में जलने वाली मां जब गिरी, तो फिर उठी ही नहीं।"[3] कहानी 'रस्तेवाली' पाठक को भीतर तक झकझोर देती है। इसमें, जमीनी यथार्थ की भीषण, क्रूर और अब तक अनछुई सच्चाई को अभिव्यक्त किया गया है। 2001 हंस के अंक में छपी कहानियों में एक ओर जहां दलित वर्ग के स्वाभिमान और उनके द्वारा सवर्ण संस्कृति का विरोध दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर दलित वर्ग की विषम स्थितियों का भी वर्णन है।

2002 के फरवरी अंक में छपी हरिभटनागर की कहानी **'बदबू'** दलितों में खासकर युवाओं में सवर्णों के प्रति प्रतिशोध की भावना को रेखांकित करती है। अब दलित वर्ग का युवक चुपचाप बेगारी नहीं करता, काम के बदले उसे उचित मेहनताना चाहिए नहीं तो वह

---

[1] हंस, अप्रैल 2001, पृ. 27

[2] हंस, अक्टूबर 2001, पृ. 16

[3] वहीं, पृ. 16

विद्रोह कर देगा। इस कहानी में लेखक जब मरे हुए कुत्ते को उठाने के लिए मेहतर के लड़के को पंद्रह रूपये मेहनताने पर ले आता है, परंतु देता पांच रूपये ही है। जब उसे पूरा मेहनताना नहीं मिलता तो वह कहता है- *"एक तो पैसा नई दे रहे हो! उस पर बंबू की धमकी! तेरे जैसा अपुन भी सलूक करेगा, पिल्ला यही डाले जाता हूँ देखता हूँ, क्या करते हो? किस मेहतर को बुलाते हो कहता होंठ चाभता, रोब में भरा पैर पटकता वह नाले की तरफ बढ़ा दौड़ता हुआ सा।"*[1] युवक का यह बर्ताव दलित साहित्य में एक नई चेतना को जन्म देता है, दलित वर्ग में परिवर्तन की एक झलक मिलती है। लेखक लिखता है कि *"मैं दांव हार गया था, लड़का हाथ से निकल गया था। गला फाड़कर उसे बुलाना चाह रहा था और पूरे-पूरे पैसे देना, लेकिन मुंह से आवाज नहीं फूट रही थी जैसे जवान न हो.....बदबू से बड़ी बदबू के तले दबा जा रहा था मैं।"*[2] लेखक को उस युवक से ऐसे बर्ताव की उम्मीद नहीं थी। उसके लिए मरे हुए कुत्ते की बदबू सहनीय थी परंतु उस युवक के प्रतिशोध की बदबू असहनीय हो गयी क्योंकि लेखक अब तक युवक के इस प्रतिशोधात्मक व्यवहार से परिचत नहीं था। 'बदबू' कहानी यदि एक तरफ दलितों के प्रति समाज को इस क्रूर अमानवीय व्यवहार से परिचित कराती है तो दूसरी तरफ एक निर्धन के रहन-सहन रख-रखाव और पड़ोसियों द्वारा किये गये छींटकशी को भी दर्ज करती है। मई 2002 के हंस के अपना मोर्चा कालम में एक पाठक दिव्य यादव लिखते हैं- *हरिभटनागर की कहानी दिल को छू गयी कहानी में एक ओर जहाँ तंगी में जी रहे परिवार का जीवंत चित्रण है वहीं पड़ोसियों की अनबन भी देखने लायक है, नैतिक मूल्यों का क्षरण हो रहा है, उच्च वर्गों की सूखी ऐंठ है। दलितों में, खासतौर से युवाओं का बड़कों के प्रति आक्रोश का विस्फोट भी'।*[3]

मई 2002 में छपी शरण कुमार लिंबाले की कहानी '**पुनर्जन्म**' दलित साहित्य के अब तक के सफर को रेखांकित करती है। इसमें दलित द्वारा किए गये आंदोलन, अधिकार हेतु संघर्ष और उसमें हुई सफलता को दर्ज किया गया है। इसकी बढ़ोत्तरी को देखकर सवर्ण भी इसमें शामिल होना चाहते हैं। मराठे हवलदार का यह कथन सवर्णों को दलित में

---

[1] हंस फरवरी 2002, पृ. 19

[2] हंस फरवरी 2002, पृ. 19

[3] हंस, मई 2002, पृ. 13

पुनर्जन्म लेने का सार्थक कारण बताता है- *तू होस्टल में रहता है, महार-मांगों के लड़कों को देख कैसे निडर होकर बोलते हैं। वेद-पुराणों की अपेक्षा इन मांग-महारों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है, अन्याय के विरोध में लड़ना, अधिकारों के लिए संघर्ष करना, गर्व के साथ जीना हर क्षेत्र में प्रतियोगिता का भाव इनसे ये सब बातें सीखनी चाहिए। हजारों वर्षों तक बुरी हालत में फंसे हुए यह स्वाधीनता के बाद पंद्रह बीस वर्षों में कहाँ से कहाँ पहुँच गये। तू थोड़ा सा सहारा बन जा। थोड़ा सा मांग बन जा.....*"[1] दलितों की यह बढ़ोत्तरी तो ठीक है परंतु इसके कारण यदि कोई ब्राह्मण मांग या महार बनना चाहे तो वह अभी दूर की कौड़ी नजर आती है। यदि सवर्ण दलितों की तरक्की देख दलितों में शामिल होना चाहे तो समाज की विसंगतियाँ अपने आप दूर हो जायेंगी। परंतु सवर्ण बर्चस्ववादी संस्कृति इतनी उदार नहीं है कि सवर्ण दलितों में शामिल हो सके। अतएव शरणकुमार लिंबाले द्वारा वर्णित परिवर्तन तो फिलहाल नामुमकिन सा जाना पड़ता है। 'हंस' के पाठक अरुण अभिषेक पूर्णिया (बिहारी) से लिखते हैं- "*कहानी 'पुनर्जन्म' दलित विमर्श की कहानी है देखो! देखो! दलित किस मुस्तैदी से आगे बढ़ रहे हैं, कहां से कहां पहुँच गये, तुम सवर्ण ऐसे क्यों नहीं बनते, बस जनेऊ तोड़ डालो। हो गये उनकी जमात में। क्या यह मौजू पहल है कथाकार महोदय। क्या समाज की विसंगतियाँ इसी तरह दूर होगीं? व्यवस्था और राजनीति की जड़ पकड़े बिना क्या सवर्ण मानसिकता खत्म हो सकती है?*"[2]

हंस के दिसम्बर 2002 में छपी सूरजपाल चौहान की कहानी 'अहल्या' पुनर्जन्म का प्रतिउत्तर कही जा सकती है। क्योंकि अहल्या में संतोष के माता-पिता 'बेटी पराया धन' जैसी गैर दलितवादी परंपराओं को मानकर, उसकी पढ़ाई रूकवाकर उसकी शादी कर देते हैं। जहाँ उसे पढ़ने-लिखने के बावजूद मैला उठाने की परंपरा में ढकेल दिया जाता है। इस कहानी में यह अंकित है कि दलित साहित्य का अर्थ केवल और केवल सवर्ण समाज द्वारा किये जा रहे अत्याचार का लेखा-जोखा नहीं है बलिक दलित समाज के लोगों का आपस में ही अपने घर-परिवार, भाई-भतीजा से भी होने वाला द्वंद्व है, कभी यह द्वंद्व विपरीत विचारधारा के कारण होता है, कभी अपनी-अपनी परंपराओं को ढोने के कारण और कभी

---

[1] हंस मई 2002, पृ. 85

[2] हंस, जुलाई 2002, पृ. 13

बहुत गहराई में बैठ गई मानसिकता के कारण। परंपराएँ आसानी से पीछा नहीं छोड़तीं। परंपराओं के कारण ही संतोष के माता-पिता और उसका पति और सास उसे अमैला ढोने जैसा अमानवीय कार्य करने के लिए विवश करते हैं। परंपराओं के कारण ही संतोष जैसी कितनी होनहार बालिकाओं को पिसना पड़ता है।

2003 के हंस के अक्टूबर अंक में छपी संजीव और प्रहलादचंद दास की कहानियाँ दलित वर्ग के लोगों का एक और सच सामने रखती हैं। वह सच है आर्थिक मजबूती होने पर ब्राह्मणवाद को अपनाना और अपनी ही जाति और वर्ग के लोगों का शोषण करना यानि दलितों में मनुवाद का स्थापित होना। संजीव की कहानी '**योद्धा**' और प्रहलाद चन्द्र दास की कहानी '**गलत हिसाब**' दोनों में यह सच देखने को मिलता है। शिल्प, भाषा, परिवेश आदि अंतर के बावजूद 'योद्धा' (संजीव) और 'गलत हिसाब' (प्रहलाद चन्द्र दास) दोनों कहानियों में समानता दीख पड़ती है। उत्पीड़न और गरीबी झेलने के बावजूद 'योद्धा' के मझले काका और 'गलत हिसाब' के मथुरा प्रसाद जब आर्थिक रूप मे समृद्ध होते हैं तो दोनों ब्राह्मणीकरण के शिकार हो जाते हैं। परंतु एक ओर जहाँ संजीव का योद्धा इस व्यवस्था का अंग बनाने के बजाए उसे बदलने की लड़ाई लड़ता है। योद्धा कहता है-"*हमारे अनचाहे ही खुद बभनपने में समाते जाना-हमीं नहीं, ज्यादातर लोगों का युगों से इस बभनपने के मारे लोगों में तो बभनपना नहीं आना चाहिए था न।*"[1] वहीं दूसरीओर 'गलत हिसाब का मथुरा प्रसाद तिवारी दीनबंधु के बताये रास्ते पर चलकर अपने ही लोगों का शोषण करता है। परंतु जब वह अपनी पत्नी 'भुसिया' और युवक 'अशर्फी' द्वारा फटकारा जाता है तथा बाद में उच्च जाति द्वारा बहिष्कार किए जाने पर अपनी असलियत समझता है तो अपने घर में होने वाले धार्मिक अनुष्ठान की सामग्री को कूड़ेदान में फेंक आता है। यहाँ पर मथुरादास को अपने दलित होने का कारण समझ में आता है और वह वर्णवादी व्यवस्था पर प्रहार करता है। अतएव ये दोनों कहानियाँ ब्राह्मणवाद पर चोट करती हैं और दलितों को आगाह करती हैं कि वे इसमें न फंसें।

दिसम्बर 2003 के हंस में छपी युवा दलित लेखक अजय नावरिया की कहानी 'एस धम्म सनंतनों' शहरी दलितों के अनुभवों और उनकी प्रगतिशीलता को रेखांकित करती है।

---

[1] हंस, अक्टूबर 2003, पृ. 19

यह कहानी उन सच्ची घटनाओं पर आधारित है जिसमें दलित सवर्णों के जुल्म से तंग आकर गांव से शहर की ओर पलायन कर जाता है। मैं शैली में लिखी गई यह कहानी प्रतीक, बिंब और फैंटेसी के प्रयोग से बेजोड़ बन पड़ी है। वे शहरों की बढ़ती आबादी के बारे में कहते हैं- *महानगरों में लगातार बढ़ती भीड़ पर सेमिनारों या गोष्ठियों में क्यों लोग बेरोजगारी को रोपने जाते हैं? बेइज्जत होने की बात कोई क्यों नहीं उठाता? महानगरों में बढ़ते जनसंख्या घनत्व का एक बड़ा अंश दलित जातियों का है।*"[1] ये सवर्णों द्वारा बेइज्जत होने के चलते गांव से भागकर शहर आ जाते हैं। लेखक का परिवार भी इसी बेइज्जती का शिकार है। उसके दादा जी एक सवर्ण से परेशान होने के कारण उसे मारपीट कर शहर आ गये और फिर कभी लौटकर गांव नहीं गये और न ही अपने बच्चों को वहाँ जाने दिया। शहर की दलित बस्ती उनकी पहचान सी बन गई। लेखक उसी बस्ती और बस्ती के दोस्तों को याद करता है, वहाँ का जो बिना छल-कपट का रहन सहन था वह उसे अब भी आकर्षित करता है। वह कहता है- "*पुरानी बस्ती न रही, दोस्त न रहे। नए समाज, नई दुनिया में एक हीनताबोध नफरत लिए हम पले-बढ़े इस आधुनिक पढ़े-लिखे समाज में प्रत्यक्ष हिंसा नहीं थी, हमारे लिए प्रत्यक्ष नफरत भी नहीं। दबी आवाज़ें थी, चीरती हंसी थीं, व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहटें थी और व्यंग्यपूर्ण विशेषण*"[2] अर्थात पढ़ा लिखा आधुनिक समाज उसे रास नहीं आ रहा जहाँ 'मुंह में राम बगल में छुरी' कहावत चरितार्थ करने वाली दोगलेपन की नीति विद्यमान है। परंतु लेखक अपनी फैंटेसी के माध्यम से देखता है कि जातिवाद को बढ़ावा देने वाले वेद, पुराण, मनुस्मृति, गीता, रामचरितमानस आदि धूं-धूं कर जल रहे हैं। जाति का दुश्मन कोई मनुष्य है लोग उसे खत्म करने के लिए ढूंढ रहे हैं। इस कहानी में अंकित जुलूस बरबस ही मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' की याद दिलाता है। वे लिखते हैं- "*ये कौन है, अरे ये तो चौहान जी हैं, जोशी जी हैं, बाल्मीकि जी हैं, कबीर के सूर्य को ग्रहण लगाने वाले आलोचक और समर्थक भी, पांडेय जी भी और महरूम आदमी साहब भी। अरे ये तो मैं हूँ.....सबके हाथों में मशाल है*"[3] यहाँ जो 'मशाल' है वह दलित

---

[1] हंस, दिसंबर 2003, पृ. 56

[2] हंस दिसम्बर 2003, पृ. 58

[3] वहीं, पृ. 58

समाज का सपना है, जातिमुक्त समाज का सपना दलित साहित्य का मूल उद्देश्य भी है। अतएव दलित साहित्य का पूरा समाज-दर्शन इसकहानी में मौजूद है।

जून 2004 के हंस में छपी चंद्रकिशोर जायसवाल की कहानी 'डोम पहलवान' सामाजिक दुर्व्यवहारों और अदूतों के खिलाफ लड़ने वाली कहानी है। इस कहानी से सवर्णों की मानसकिता और वैचारिक नीचता झलक जाती है। इसमें 'ललुवाडोम' डोम रहकर नहीं जीना चहता, अपितु 'डोम पहलवान' बनकर इज्जत से जीना चाहता है। इसलिए जब मास्टर नारायण झा उससे पूछते हैं- कि तुम्हारा बाप डोम है, तुमरा दादा डोम था, तुम्हारा परदादा डोम था सबने डोम का धर्म निभाया, सच्चा डोम बने रहे और खानदान की इज्जत पर आंच नहीं आने दी तो तुम क्यों नाक काटने पर उतारू हो। इस पर वह कहता है- "*नाक काटकर ही नाम कमा पाऊँगा।*" [1] अपने स्वाभिमान के प्रति 'ललुवा डोम' की यह जागृति सवर्णों को नहीं भायी, कुछ सवर्ण मिलकर उसकी कुटम्मस करदेते हैं। परंतु फिरभी वे उसकी दृढ़ता को डिगा नहीं पाते। इन सबके बावजूद भी ललुवा डोम पहलवान बनकर अखाड़े में कूद पड़ता है। आज के दलित समाज में 'डोम पहलवान' जैसे लोगों की जरूरत है। दलित साहित्य की ऐसी कहानियाँ परिवर्तति जनचेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं।

जुलाई 2004 के अंक में छपी रत्नकुमार सांभरिया की कहानी 'चमरवा' जातिप्रथा के घिनौने रूप को दर्शाती है। राजस्थान के पूर्वी और हरियाणा के पश्चिमी छोर पर बसी चमरवा बाभन एक जाति जो केवल चमारों के ही कर्मकांड संपन्न कराकर अपना बसर करती है। इस कहानी में दरपन नामक चमरवा बाभन जिन चमारों की रोटी पर जिंदा है। उनका शरीर उसके लिए अछूत है, अपवित्र है, पर उनकी रोटी अपवित्र नहीं होती, क्योंकि रोटी के बिना वह मर जायेगा इसलिए वह अपनी सहूलियत के लिए सूखे सिद्दे को शुद्ध और गीला सिद्दे को अछूत मानता है। परंतु जब अपनी मृतपत्नी के लिए चार कंधाों की तलाश में वह उच्च जातियों का शरण में जाता है तो उसे खाली हाथ लौटना पड़ता है। अंत में चमार ही उसकी मदद करते हैं। इसक कहानी में 'चमरवा बाभन' में जाति व्यवस्था की अमानवीयता और घृणित पक्ष की अभिव्यक्ति है। यहाँ पर एक पाठक हरेराम सिंह की यह

---

[1] हंस, जून 2004, पृ. 77

प्रतिक्रिया सटीक जान पड़ती है- *आज के समाज में 'डोम पहलवान' की तरह के व्यक्ति की जरूरत है चमरवा बाभन की तरह नहीं।"* [1]

हंस अगस्त 2004 का अंक 'सत्ता विमर्श और दलित' के नाम से दलित विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। यह स्वानुभूति, वैचारिकी, कहानियों, कविताओं, साक्षात्कार का बेजोड़ संयोजन है। यहाँ पर कहानियों की कुछ चर्चा होगी। इस अंक में बीस कहानियाँ संकलित है। इसमें प्रकाशित कथाकार ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'चिड़ीमार' सवर्ण समाज के एक घिनौने सच को दर्शाती है। वैसे सवर्ण भले ही दलितों से छुआछूत, जातिवाद का भेदभव रखते हैं, परंतु दलितों में सुंदर लड़की दखते ही लार टपकाने लगते हैं। इस कहानी में सुनीति नामक दलित लड़की को गुल्लू और उसके तीन दोस्त छेड़ते हैं। दूर से ही नाम लेकर चिल्लाना, फिकरे कसना, जोर-जोर से हँसना, भद्दे, अश्लील इशारे करना, उनका रोजमर्रा का काम हो गया था। सुनीति के थप्पड़ लगाने पर भी जब वे लोग नहीं सुधरते तो सुनीति का मित्र सुतेज इनकी खूब पिटाई करता है। गुल्लू द्वारा पुलिस में शिकायत दर्ज करने पर पुलिस आती है। पर सुनीति का सच जानकर गुल्लू को ही गिरफ्तार करती है। यहाँ पर कहानी यथार्थ के धरातल से हटती नज़र आती है, क्योंकि पुलिस बिना रिश्वत लिये कोई काम नहीं करती। परंतु एस.पी.से जाति के आधार पर अपमानित होकर इंस्पेक्टर जब गुल्लू के मुंह से सुनीति के लिए 'भंगिन' शब्द सुनता है तो जमकर उसकी पिटाई कर देता है। ऐसा लगा कि गुल्लू को मारकर उसने एस.पी.से बदला ले लिया। यहाँ पर यह कहावत चरितार्थ होती है 'राख ही जानती है जलने का दर्द'।

इस अंक की दूसरी कहानी 'दिवंगत' के माध्यम से राजेन्द्र यादव यह विचार रखते हैं कि आरक्षण के आधार पर चयनित लोगों की योग्यता पर संदेह प्रकट किया जाता है, परंतु जो सवर्ण घूस और सिफारिश के बल पर नियुक्त होते है उन पर कोई उंगली क्यों नही उठाता?

दलित लेखक प्रहलाद चन्द्र दास की कहानी 'अब का समय' बताती है कि सैद्धांतिक और साहित्यिक रूप में बहुत परिवर्तन हो चुका है, पत्र-पत्रिकाओं में लोग अपने लेखों के माध्यम से समानता की बात करते हैं। परंतु मानसिक और व्यवहारिक स्तर पर

---

[1] हंस, जुलाई 2004, पृ. 77

परिवर्तन अभी नगण्य है। पढ़े-लिखे लोग भी समय-समय पर परिवर्तन वादी चोला उतारकर ब्राह्मणवादी चोला पहन लेते हैं। इस कहानी में अंजू अपने मायके से आये हुए दीपक चौबे और विवेक चौबे की भरपूर खातिरदारी करती है क्योंकि गांव में जिन लोगों को वह छू नहीं सकती थी,वे लोग उसके यहाँ पानी पी रहे हैं, खाना खा रहे हैं। परंतु हकीकत यह थी कि वे लोग अंजू के इंजीनियर पति विजय बाबू से अपना काम निकलवाने आये थे। उनका काम हो गया, वे चले गये। कुछ दिन बाद अंजू पति के साथ मायके जा रही थी। रास्ते में उसकी भेंट विवेक चौबे से होती है। वहाँ विवेक चौबे और दीपक चौबे का भोजन करना, पानी पीना तो काम निकलवाने का बहाना था। अंजू का 'तुम' करके बात करना पंकज को बर्दाश्त नहीं हुआ वह बोल उठा-"यह क्या तुम-ताम लगा रखी है? एक अफसर से शादी हो गयी, और वह अफसर भी रिजर्वेशन के बूते बना होगा, तो अपनी औकात भूल गई? ब्राह्मण से तुम-ताम करती है?"[1] इस पर अंजू ने विवेक से कहा - "*बुद्धिजीवी, पढ़े लिखे तुम्हारे तबके का तो यही चरित्र रहा है, काम निकालने के लिए खोल उतराकर पेश हो लिए फिर काम हो जाने पर पुनः उसी खोल में चले गये?*"[2] यह कहानी पढ़कर लगता है कि सवर्णों का ब्राह्मणवादी खोल सैद्धांतिक रूप से उतर चुका है परंतु मानसिक और व्यहारिक रूप में अब भी यह खोल कहीं गहरे तक बैठा है।

इसी अंक में छपी जय प्रकाश कर्दम की कहानी 'लाठी' का प्रसंग गांव से लिया गया है। उत्तर भारत के अधिकतर गांवों में पानी के कारण सवर्णों-अवर्णों में लड़ाई की घटना सुनाई दे जाती है। दलितों का पीने के पानी के लिए संघर्ष सर्वविदित है। यहाँ भी वर्णवादी सामंती व्यवस्था का बोलबाला है। हरि सिंह का पानी का वार होने पर भी बदनी जाट जबरदस्ती अपने खेत में पानी ले जाता है। हरि सिंह के ना नुकुर करने पर उसे लाठी से पीट देता है। इसी प्रसंग को लेकर जयप्रकाशकर्दम ने '**लाठी**' नामक कविता भी लिखी है।

कथा-लेखिका कंचनलता की कहानी 'बाप' दलित समाज में व्याप्त पितृसत्ता को उजागर करती है। पितृसत्ता और वर्णव्यस्था भारतीय समाज व्यवस्था के दो ऐसे तत्व है

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 126

[2] वहीं, पृ. 126

जिनके कारण स्त्री और दलित शोषण के शिकार हैं। दलित वर्ग भी वितृसत्ता जैसी घिनौनी परंपरा से बच नहीं पाया। इस कहानी में 'बाप' अपने बच्चों को इस शक में मारता है कि वे बच्चे उसके न होकर किसी पुजारी सिपाने के बच्चे हैं। इसी मार से परेशान होकर उसकी बेटी सुमन आत्महत्या कर लेती है।

कथाकार राजेन्द्र कुमार कन्नौजिया की कहानी **'सत्तूमधैया'** एक असफल दलित नेता की कहानी है। इसमें सत्यनारायण 'दुसाध' उर्फ सत्तू बहुत ही होनहार छात्र था। हाईस्कूल की परीक्षा उसने मेरिट से अपने बल पर पास की। उसमें उसके पिता मुजारी साधू की भूमिका नगण्य थी। लेखक ने लिखा है- *"सत्तू की अंगूठा छाप से अंगूठा बचाने तक की लड़ाई जहाँ एक 'मिशन' भी, एक जंग भी। अस्तित्व के लिए सत्तू का जुझारू संघर्ष था। वहीं मुजारी साधू को अपने ओझा, गुनिया, भूत-प्रेत, नींबू-शराब से फुर्सत नहीं थी। सत्तू उसके लिए एक बोझ था जिसकी किताब - कॉपी, कपड़े-लत्ते का खर्च,उसकी शराब, मांस के खर्च में होने वाली बेकार की कटौती थी।"* [1] क्योंकि मुजारी साधू यह मानते थे कि पढ़-लिखकर वह कलेक्टर भले बन जाय, पर पहचान वहीं रहेगी 'छोटजात'। इसीलिए अपना धंधा संभालने में ही भलाई है। परंतु सत्तू मुजारी के मरने के बाद भी सुअरबाड़ा का धंधा नहीं अपनाता, सुअरबाड़ा अपने चाचा मदारी को दे देता है। स्वयं जूस की दुकान खोलता है,? धीरे-धीरे उसका धंधा जम गया। यहां पर अतिश्योक्ति दिखाई देती है क्योंकि कोई गैर दलित किसी दलित के घर पानी नहीं पी सकता तो उसकी दुकान पर जूस पीने की बात ही छोड़िए खैर, तरक्की करते-करते सत्तू व्यापार मण्डल में मंत्री बन गये थे। विधानसभा चुनाव में गांव की सीट अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित होने के कारण 'सत्तू' को चुनाव लड़ना पड़ा और उसमें उसकी जीत हुई अब 'सत्तू' सत्यनारायण दुसाध से सत्यनारायण एम.एल.ए. हो गये। अब वे विपक्ष की समस्याएँ समझाते थे। अब उसके पास पैसा, ताकत सब था, फिर कुछ है जो उन्हें अन्दर ही अंदर कुरेदता है। वह यह कि- *"आज भी उनके नाम के साथ हर अखबार दलित नेता सत्यनारायण लिखता है। आज भी बड़ी बिरादरी के लोग उसे 'सत्तू दुसाध' बुलाते हैं, उनके छोटे बच्चे सत्तू के पैर छूने में हिचकिचाते हैं, पीठ पीछे लोग उसकी प्रतिभा को नहीं सराहते बल्कि उसको जन्म और*

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 134

*जाति से पहचानते हैं। उसकी स्थिति अब भी गंदे सुअर या कुत्ते की घृणास्पद उपस्थिति जैसी ही है। लोग यदि आदर देते हैं, तो संकोचवश या डर के मारे। अपने लोगों में वो भगोड़ा है और दूसरों में वहीं 'स्साला' छोट जाता"* [1] यहाँ पर कहा जा सकता है कि दलित चाहे जितना तरक्की कर ले, परंतु जाति के आधार पर उसे हमेशा नीच ही समझा जाता है। यदि वह गरीबों, दलितों के बारे में कुछ बोलता है तो लोगों को लगता है कि अपने जाति का पक्ष ले रहा है। इसमें सत्तू मुख्यमंत्री पद के लिए पार्टी का घोषण पत्र निकालता है, लोग उसका विरोध करते हैं, यही नहीं उनमें से एक उसे सीढ़ियों से धक्का देकर मृत्यु तक पहुँचा देता है। यहाँ पर कहा जा सकता है कि दलित वर्ग अपने मेहनत के बल पर आर्थिक रूप से समृद्ध हो सकता, परंतु सामाजिक रूप से वह हमेशा नीच बना रहता है, उसकी जाति उसकी चमड़ी के साथ चिपकी रहती है।

अनिता रश्मि की कहानी 'मिरग-मरीचा' का कानू लाख कोशिश करने के बाद भी मैला ढोने के धंधे को छोड़ नहीं पता, क्योंकि सरकार जहाँ मैला ढोने पर प्रतिबंध लगाती है।, वहीं उन्हें नया काम दिलाने का वादा भी करती है पर जब उन्हें काम नहीं मिलता तो वे फिर से वहीं धंधा अपना लेते हैं।

दलित लेखिका रजतरानी 'मीनू' की कहानी 'हम कौन हैं?' पढ़े लिखे सभ्य लोगों में गहरे जमे बैठे जातिवाद को दर्शाती है। लोगों में जाति पूछने का ट्रेंड बदल चुका है। अब सीधे-सीधे 'जाति' जैसी संकीर्ण शब्द का इस्तेमाल न कर 'सरनेम' पूछा जाता है। इस कहानी में अज्जू के माता-पिता उसका दाखिला एक अच्छे स्कूल में कराते हैं जिससे उसकी पढ़ाई की नींव मजबूत पड़े। परंतु उसे पहला सबक 'सरनेम' का मिलता है। वह मां से पूछती है कि हम हिन्दू नहीं हैं क्योंकि हम पूजा नहीं करते, हम मुस्लिम नहीं हैं, क्योंकि हम नमाज नहीं पढ़ते, हम ईसाई भी नहीं हैं क्योंकि हम चर्च नहीं जाते तो हम कौन हैं? क्या यह 'सरनेम' पूछना जातिवाद को परिपोषित करने का नया ढंग नहीं है? क्या इस तरह जातिवादी स्थापनाओं को मजबूत नहीं किया जा रहा है? क्या शुरू से बच्चों में जातिवाद की ऊँच-नीच की भवना नहीं पनप रही है?

---

[1] हंस अगस्त 2004, पृ. 136

राम निहोर विमल की कहानी 'दस्यु' का प्रसंग उस समय का है जब फूलन देवी दस्यु बन गई थी और प्रदेश सरकार का डाकू उन्मूलन कार्यक्रम शुरू हो चुका था। इस अभियान में पढ़े-लिखे दलित युवकों की हत्याएं हो रही थी। क्योंकि *''पढ़े-लिखे जागरूक दलित धीरे-धीरे समझ चुके थे कि सवर्णों के अत्याचार और उत्पीड़न से मुक्ति थाना, पुलिस या कोर्ट-कचहरी नहीं दिला सकते हैं, उधर बिहार के दलित भी कम्युनिस्टों के साथ मिलकर सांमतवाद से लड़ाई लड़ रहे थे, दलितों के इस जागरण से सवर्णों के सामंती शोषण पर संकट पैदा हो गया था।''* [1] यह कहानी एक और सच से हमें रूबरू कराती है वह यह कि जब दलित पढ़ लिखकर उच्च पदवियों पर पहुँच जाते हैं तो समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से पलायन कर जाते हैं। बड़ा आदमी बन जाने के बाद गरीबों, दलितों की लड़ाई को भूल जाते हैं।

इसी पलायन को दर्ज करती कहानीकार रामचन्द्र की कहानी महत्वपूर्ण बन पड़ी है। दलितों में पलायन दो तरह से दिखाई देता है। एक गांव से शहर को पलायन, दूसरा पढ़-लिखकर उच्च पदवियों पर पहुँचने के बाद दलितों-पीड़ितों की लड़ाई से पलायन। इसमें अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहे युवक विजय का हिंसक क्रोध बहुत ही विश्वसनीय बन पड़ा है। वह दलित आंदोलन में क्रियाशील है। सरकारी सेवा में भी है। बॉस उससे नौकरों जैसा व्यवहार करता है। जब एक दिन अम्बेडकर जयंती में भाग लेने के लिए बॉस से छुट्टी मांगता है, बॉस उसे गलियाता है क्रोध में आकर बॉस को पटक देता है और नौकरी छूट जाती है। गांव में जब अम्बेडकर जयंती का कार्यक्रम चल रहा था। कुछ सवर्ण गुंडों ने उसकी पत्नी को गाली देते हुए जयंती विध्वंस के लिए हमला बोल दिया तब विजय अन्य दलित युवकों के साथ उन गुण्डों से लड़ता है। बाद में वह दलित अस्मिता के लिए दीवाना बना रहता है। इधर बीच जब उसका साथी जयनाथ शहर से गांव आता है और वह विजय को समझाने की कोशिश करता है। इस पर विजय जयनाथ से कहता है-*"मेरे प्यारे शहरी दोस्त, तुम गांव से कितने सुनहरे सपने लेकर गये थे, गांव छोड़ते हुए कहा था कि मैं एक दिन गांव की तस्वीर बदल दूंगा....जयनाथ आते ही तूने लम्बा लेक्चर पिलाया था कि आप लोग वहीं के वहीं हो लेकिन मुझे ऐसा लगता है तुम सब जहाँ के*

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 152

*तहाँ हो"* [1] यह कहानी उन लोगों पर व्यंग्य है जो पढ़-लिखकर शहरों में तो जातिवाद, छुआछूत के विरूद्ध लेक्चरबाजी बहुत करते हैं, वे ही गांवों में जाकर उसका विरोध करने से कतराते हैं, गांव से शहर पलायन करने के साथ ही वे गांव में दलितों-पीड़ितों की सच्चाई से भी मुंह मोड़ लेते हैं, यहाँ पर शहरों में उभरते दलित मध्यवर्ग के दोहरे चरित्र को साफ देखा जा सकता है।

मुशर्रफ अली की कहानी 'पिघला हुआ शीशा' गैर दलितों में आरक्षण को लेकर होने वाली गलतफहमी से परिचत कराती है। गैर दलितों में यह गलतफहमी है कि आरक्षण की वजह से उन्हें नौकरी नहीं मिलेगी, इसकी वजह से गलत-चयन हो रहा है। गैर दलित आरक्षण लाभ के लिए अपनी जात बदलना चाहते हैं, उन्हें वह नहीं मालूम कि उन्होंने दलितों के साथ जो दुर्व्यवहार, अत्याचार, उत्पीड़न किया है, उसका बोझ इतना भारी है कि वे नहीं सह सकेंगे। परंतु गैर दलित सरकारी नौकरी के लिए 'जात' बदलना चाहते हैं, दलित बनकर रहना नहीं चाहते हैं। इसमें शुक्ला जी कहते हैं कि- *बड़ी जात वालों को तो सरकारी नौकरी की आशा छोड़ देनी चाहिए अगर जात बदल सकती होती तो मैं कब का अपना जात बदल लेता। हम तो भइया तभी नौकरी पा सकते है जब कोटे का सर्टिफिकेट बनवा ले"* [2] जब एक दलित युवक शुक्ला जी को आरक्षण के बारे में तार्किक ढंग से बताता है तो नौकरी के लिए दलित बनने वाले शुक्ला जी अपने ब्राह्मणवादी अंदाज में कहते हैं- *"कैसी जुबान चला रहा था, गांव होता तो हरामी के सौ जूते लगवाता, पढ़ाई ने इन सबों का दिमाग खराब कर दिया है। हमारे पुरखों ने यह सोचकर तो नियम बनाये थे कि ज्ञान का एक शब्द भी अगर इनके कान में पड़ जाये तो पिघला हुआ सीसा डाल दो।"*[3] यहाँ पर गैर दलितों की अवसरवादिता को बखूबी देखा जा सकता है। यहाँ शुक्ला जी दलित बनकर आरक्षण का लाभ तो लेना चाहते हैं, परंतु ब्राह्मणवादी संस्कारों की खोल बिना उतारे।

शिव कुमार कश्यप की कहानी 'रात' में जाति के कारण दलित किरायेदार को गैर दलित मालिक का मकान छोड़ना पड़ता है। उषा चन्द्रा की कहानी 'लोकतंत्र में बकरी'

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 160

[2] हंस, अगस्त 2004, पृ. 160

[3] वहीं, पृ. 162

दलित जीवन की सामाजिक पीड़ा की मर्म स्पर्शी दास्तान है। इसमें विनाश बाबू दलित हैं। वे गांव के लिए संघर्ष और प्रतिरोध के प्रतीक हैं। समय-समय पर वे अपने लोगों के हक के लिए और अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाते रहते हैं। लेकिन कभी भी वे कानून को हाथ में नहीं लेते। उनका मानना है कि *'कानून के रखवालो के गलत होने से कानून गलत नहीं हो जाता'* [1] उनका सपना है कि उनका बेटा बड़ा होकर कलक्टर बने और समानता और हक के लिए लड़े। लेकिन बकरी के कारण जमींदार के बेटे से उनका झगड़ा होता है। इस पर जमींदार के बाहुबली बिनाशबाबू और उनकी पत्नी की हत्या कर देते हैं। यहाँ पर एक दलित के संघर्ष और उसके दुखद अंत दोनों देखा जा सकता है। लेखिका ने यहां सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखा है- *"मुन्ना (विनाश बाबू का बेटा) के मूक आंसुओं की धार को पीती तथा दुलारती बकरी पश्चाताप से जैसे कह रही हो....मुझे क्या मालूम था कि प्रकृति की सीमाएँ छोटी हैं, प्रकृति ने तो पूर्णता में सौंपा है लेकिन खंड-खंड तो आप मनुष्यों ने किया है। 'जानवर' यह फर्क क्या जाने।"*[2] इस कहानी में 'बकरी' उस मनुष्यता या मानवता का प्रतीक दीख पड़ती है। यहां बिडम्बना यह है कि 'बकरी' मानवता से परिपूर्ण है और मुनष्य हिंसक पशु के रूप में जैसा कि कहानी का अंत भी ऐसे ही भाव से होता है- मनुष्य के बच्चे के आंसू पोंछती 'बकरी'।[3]

अगस्त 2004 के अंक में छपी अजय नावरिया की कहानी 'उपमहाद्वीप' कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टि से महत्वपूर्ण बन पड़ी है। इसमे कहानीकार ने 'फ्लैश बैक' शैली के माध्यम से छोटी-छोटी घटनाओं की बुनावट इस तरह से की कि यह कहानी अत्यंत सजीव और चित्रात्मक हो उठी। इसमें शहर और गांव दोनों की घटनाओं का जिक्र करते हुए जातिवाद को दिखाया गया है। 'मैं' शैली में लेखक उस घटना का जिक्र करता है जब उसके मां- पिताजी शहर से गांव जाते हैं। उनके पहनावे और रहन-सहन का ढंग थोड़ा ठीक रहता है। यह सब गैर दलितों को रास नहीं आता है। सभी जुटकर उनकी पिटाई कर देते हैं और कहते हैं कि - *"कायदा कानून भूल गया गाम को, यह सैहर नहीं है भैन चो.,*

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 168

[2] वहीं, पृ. 170

[3] वहीं, पृ. 170

*गाम है इसमें वहीं होगा जो यहाँ का कायदा है यहाँ बस हमारा कानून चलेगा।"*[1] दलितों की थोड़ी सी भी समृद्धि गैर दलितों को फूटी आंख नहीं सुहाती। उनकी मानसिकता वर्चस्ववादी है। दूसरों को वे हमेशा दबा कर रखना चाहते हैं। दलित साहित्य का मूल उद्देश्य इसी वर्चस्ववादी मानसिकता को जड़ से खत्म करना है। इस कहानी के दूसरे गांव में शादी-व्याह के मौके पर कोई भी दलित घोड़ी नहीं चढ़ सकता क्योंकि गैर दलित का अपमान होता है। इसी प्रसंग में जुड़ी घटना पर अजय नावरिया ने बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति दी हे। दलित भीमा घोड़ी पर बैठ कर बारात जाना चाहता है। इसकी भनक जब गैर दलितों को लगती है, तो अपनी पूरी पलटन के साथ बारात पर हमला बोल देते हैं और भीमा को घोड़ी से उतार देते हैं, जैसे-तैसे बारात चली जाती है। परंतु फिर भी वे चुप नहीं हुए और दलितों के घर से किसी लड़की को उठवा लिया। लेखक ने यहां पर लिखा है- *"उसी दोपहर मैंने निश्चय किया था। आने वाले भविष्य के लिए मैं अपनी पत्नी और बेटे को नहीं सिखाऊंगा कि औरत की इज्जत लूटने से लुट जाती है। कि वह सिर्फ शरीर है। वे गार्गी नहीं बनेगीं, अम्बपाली का मनोबल सीखेंगी, अप्रतिहत जिजीविषा से पूर्ण।"*[2]

यहाँ पर लेखक और दलितों की पशुवत मानसिकता को रेखांकित किया है। यही मानसिकता वह शहरों में भी देखता है, परंतु यहां स्थिति दबी हुई है। लेखक ने गांव एवं शहर में जाविादी स्थिति को अपने कविताई अंदाज में चित्रित करते हुएलिखा है- *"उधर गांव है, हमारी जड़ें, हमारी जमीन, जहां जलालत है, अपमान है, लाचारी है, बेबसी है, हर पल बेइज्जत होने का डर है हर क्षण छोटे होने का एहसास है.....न थाना न पुलिस न अस्पताल न कचहरी, गांव की पंचायतों में हमारे लिए चाय नहीं है सिर्फ उपहास है, वहाँ न खेत थे, न जमीन थी हमारी, बस मेहनत थी।"* [3]

परंतु शहर में यह सभी कुछ मौजूद है। परंतु इसके बावजूद भी कुछ ऐसा है जो अन्दर ही अन्दर धुंआता रहता है। लेखक के शब्दों में, *"परिचत संसार में वहीं सर्प है, वही फुसफुसाहटे हैं, वहीं जहर बुझी मुस्कराहटे हैं, हमारा कोटा निश्चित है। मैं कोटे की वजह*

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 174

[2] हंस, अगस्त 2004, पृ. 177

[3] हंस, अगस्त 2004, पृ. 177

*से तरक्की कर गया हूँ ....बस.....वरना.....शायद मैं भी गंदा हूँ, अब भी नीच।"* [1] कहा जा सकता है कि जातिवाद सर्वत्र अपनी गहरी पैठ बनाये हुए है, बशर्ते गांव में वह खुलकर दिखाई देता है, तो शहर में फुसफुसाहट के साथ दबे स्वरों में।

सरिता भारत की कहानी 'मैं मइया थी' विपरीत परिस्थितियों में काल्पनिक व्यक्तित्व अपनाकर लड़ने की रोचक दास्तान है। इसमें लेखिका स्वयं काल्पनिक देवी रूप का सहारा लेकर अपने घर की लड़ाई को रोकती है और अपनी पढ़ाई को जारी रखती है। दलितों में, खासकर गांव में काल्पनिक देवी के चरित्र को माना जाता है। यह सब उनके जाति अनुसार होता है। उदाहरणस्वरूप चमारों की 'चमरइया मइया' आदि। अगस्त 2004 के हंस में अंतिम कहानी उमेश सिंह की 'रम्पो का चेहरा' है जिसमें मृत्यु के बाद होने वाले संस्कारों को नकारा गया है।

हंस के अक्टूबर 2004 के अंक में प्रेमचंद कथा सम्मान प्राप्त कथाकार श्रीधरम की कहानी 'की रे हुकुम' में दलित जीवन की सामाजिक विषमताओं की एक अलग सच्चाई का बयान किया गया है। वह कहानी बताती है कि अब दलितों में जागृति आने लगी है। उन्होंने भी अपने अपमान का बदला गैर दलितों से अलग-अलग ढंग से लेना शुरू कर दिया। पहले तो उनके नाम में भी हीन भावना दिखाई देती थी। जैसे फेकू, भोला, चपेटा, करिया, घूरहू, निरहू आदि। परंतु अब दलितों के नामकरण में परिवर्तन होने लगा है। दलित निरर्थक और दयनीय अभिव्यक्ति देने वाले नामों को छोड़कर सार्थक एवं सम्मानसूचक नामों को रखने लगे हैं। इस कहानी में फेकू अपने बच्चे का नाम गांव के ठाकुर के नाम पर 'बाबू साहेब' रखता है। इस पर लेखक ने लिखा है- *"फेकू पासवान ने जब अपने बेटे का नाम बाबू साहेब रखा। एकाएक गांव की राजनीति गरमाने लगी थी। सवर्ण टोले की गर्म हवा से पासवान टोला सूजने लगा था। पचकौड़ी, फेकुआ, मोलुआ, रोंदी, लुचाई जैसे निर्थक नामों को छोड़कर गांव के सवर्ण जमींदार का नाम झटक लेना कोई दुसाध मुसहर का पूत सपना भी देख सकता है भला? पर फेकू अपना सपना साकार कर चुका था। एक ही रात में गांव के दुसाध टोले में बाबू साहब का अवतार हो गया था। गांव में भीषण लू चलने लगी थी और पुराने हथियारों पर सान चढ़ने लगी थी। बाबू साहब के बड़े बेटे*

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 178

*रघुनंदन राय की भृकुटी तो उसी दिन तन गयी थी हुँह, माय करे कुटौन पिसौन और बेटा का नाम दुर्गादत्त।"*[1] फेकू अपने बच्चे का नाम 'बाबू साहेब' रखकर जमींदार से अपने अपमानों का बदला लेता है। जिस तरह से बीस साल पहले ठाकुर उसे 'रे फेकुआ है रेऽऽऽ!' कहकर बुलाता है जैसे बीस साल पहले की गुलामी का बदला ले रहा हो। हांलाकि इसके एवज में ठाकुर साहब के बेटे ने फेकू के घर को कब्जा लिया था। यहाँ पर दलितों के बदला लेने का तरीका साहित्य को नयी चेतना से भर देता है।

हंस के फरवरी 2005 के अंक में छपी बेणुगोपाल की कहानी 'अंताक्षरी' दलित साहित्य में उपजे व्यक्तिवाद को रेखांकित करती है। कहानी का नायक सायन्ना व्यक्तिवाद से प्रभावित है। सायन्ना के पिता बड़े राजनेता है। वह दलितों की यातनाओं से परिचित नहीं है। वह अपना नाम और सरनेम बदलकर सायन्ना से सूर्यकांत त्रिपाठी बन जाता है। और अपनी दलित पहचान से मुक्ति पाने की कोशिश करताहै, रिजर्वेशन के बगैर वह मेरिट में भी आता है, परंतु फिर भी वह दलित होने की पहचान से मुक्त नहीं हो पाता। सुधीर से मार खाने के बाद उसका सारा ब्राह्मणत्व खत्म हो जाता है और वह फिर से नालगोंडा का दलित लीडर सापन्ना बन जाता है। और रिजर्व सीट से विधानसभा चुनाव लड़ता है। इस कहानी के बारे में 'अपना मोर्चा' की पाठक 'आरती झा' ने लिखा है- *कहानी 'अंताक्षरी', 'क्रियेटिंग ए न्यू सिविलाइजेशन' में दस्तक देने जैसे वेणुगोपाल जी समस्या के मूल में जाकर समाधान ढूढते दिखाई दिये। घिसे-पिटे दुराचापों से दूर दलित विमर्श को मजबूती से और तथ्यात्मक ढंग से बताया गया है, चेतना का रूपांतरण.....सन्नी से सूर्यकांत त्रिपाठी, एक और चीज अच्छी लगी कि नकल को अंततोगत्वा खारिज किया गया है।"*[2]

हंस के सिंतबर 2005 के अंक में छपी अंशू मालवीय की कहानी '14 अप्रैल' जातिवाद एवं छुआछूत को लेकर गैर दलितों की पीढ़ी दर पीढ़ी में हो रहे परिवर्तन को रेखांकित करती है। इसमें मिसिर जी यानी पंडित रामेश्वर मिश्रा गांव के दलितों को दबाते रहे। और वे अपने बेटे को भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं। परंतु उनका बेटा राघवेन्द्र उनके जैसा कभी बनना नहीं चाहता था, वह कभी-कभी दलितों की मदद भी कर देता है। बाबा

---

[1] हंस, अक्टूबर 2004, पृ. 65

[2] हंस, मार्च 2005, पृ. 63

साहेब अम्बेडकर की जयंती 14 अप्रैल को जाकर वह पैर छू लेता है। यह सब मिसिर जी पचा नहीं पाते, वे अपनी पत्नी से कहते हैं कि- "*यहीं बदे इतना रसूख बनावा रहाकि जाइ के चमरवन से मरवावत फिरै...एक दिन हम कहत रहै, एक दिन ई साला हमार नाम डुबाई। तब साले सब लगुवे मसुवे कहै, 'मिसिर जी आपै पर गवा है आपै के लच्छन पाये है। क रे ससुरी कहीं अउरसे ले के आइ रही का....*"[1] यहाँ पर देखा जा सकता है गैर दलितों की वर्चस्ववादी संस्कृति मजबूत है, यदि उसमें कोई भी सेंध लगाने की कोशिश करता है चाहे वह अपना ही क्यों न हो उसे बख्शा नहीं जाता है। परंतु पीढ़ी दर पीढ़ी की सोच जो थोड़ा बहुत बदलनी शुरू हुई है वह भी अपनी छाप छोड़ ही देती है।

नवंबर 2005 के अंक में छपी अजय नावरिया की कहानी 'चीख' दलित समाज की एक नई सच्चाई से परिचित कराती है। अब तक की कहानियों में गैर दलितों द्वारा दलित स्त्रियों का यौन-शोषण चिर परिचित सच्चाई है। परंतु दलित युवक का पुरूषवेश्या बनने की कहानी शायद पहली बार लिखी गयी है। कहानी की शुरूआत में कथानायक 'मैं' का जबरदस्ती अप्राकृतिक मैथुन पटेल के लड़के विनायक के साथ हो जाता है। यहाँ पर देखा जा सकता है कि अब तक दलित स्त्रियाँ गैर दलितों द्वारा यौन शोषण की शिकार थी, अब दलित पुरूष भी हाने लगे। कथानायक 'मैं' जब गांव से शहर आता है तो वह अपनी पढ़ाई और जरूरतों को पूरा करने के लिए मिसेज देशमुख का 'सैक्स ग्राहक' बन जाता है। मिसेज देशमुख उसे नियत वेतन पर पुरूष वेश्या के रूप में रख लेती हैं। सेक्स खरीदना मिसेज देशखमुख की शारीरिक आवश्यकता ही नहीं, अपने बूढ़े पति मिस्टर देशमुख से औरतनुमा बदला लेने का एक कारगर तरीका भी है। कहानीकार अजय नावरिया इस कहानी के माध्यम से यौन शोषण के शिकार दलित स्त्री और दलित पुरूष को एक स्थान पर ला खड़ा करते हैं।

अगस्त 2006 के हंस में छपी ओमप्रकाश बाल्मीकि की कहानी 'रिहाई' 'बंधुआ मजदूर' की मार्मिक अभिव्यक्ति है। इसमें सुगनी और मिट्टन, लाला के कैदी बनकर कैदनुमा-गोदाम की रखवाली करते हें वे इस कैद से मुक्त होना चाहते थे। सुगनी हमेशा

---

[1] हंस, सितंबर 2005, पृ. 94

मिट्टन से कहती थी, "*कोई रास्ता ढूढो, यो गोदामहरी जिनगी ले लेगा।*"[1] वे चाह कर भी गोदाम से मुक्त नहीं हो पाए, उसी में उनकी मृत्यु हो जाती है।, परंतु उनका बेटा 'छुटकू' गोदाम से रिहाई लेकर अपने मां-बाप का सपना पूरा कर देता है। लेखक ने लिखा है- ''अनजान और अजनबी सड़क पर दौड़ते हुए छुटकू को लग रहा था, जैसे वह गोदाम की चहारदीवारी से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो गया।"[2]

हंस के फरवरी 2007 के अंक में छपी अनिल चमड़िया की कहानी 'जो हत्यारा नहीं था' में कला और संवेदना के फर्क को दिखाया गया है। इसमें जातिवाद के चलते एक प्रेमी युगल को पेड़ से लटकाकर फांसी दे दी गयी। गांव के सामने मथुरा के मेहराना गांव की रोशनी और ब्रजेन्द्र को फांसी दे दी गयी, इस घटना पर दो वर्ष बाद दूरदर्शन वालों को डाम्यूमेंटरी फिल्म बनाने का आदेश मिला। ये डाक्यूमेंटरी बनाने वाले लोग ऐसी घटनाओं की जो चीर फाड़ करते हैं वह अकथनीय है। इन लोगों के पास संवदेना नाम की चीज ही नहीं है। जिस तरह से वकीलों के लिए व्यक्ति अभिप्रकट होता है, वैसे ही डाक्यूमेंटरी वालों के लिए हर घटना एक कहानी से ज्यादा कुछ नहीं है। लेखक ने लिखा है- "*कैमरामैन आखिर आंसू सुखा चुकी मां से क्या चाहता है, पर कैमरे का तो अपना व्याकरण होता है। कैमरा वर्तमान में भूत को उतारना अपनी सबसे बड़ी जीत मानता है। कैमरामैन भी उस मां के चेहरे पर वहीं दृश्य देखना चाहता था जब उसके जवान बेटे को लाठियों से मारा जा रहा था। पिता ने अपनी चोटें दिखाई थी, यह एक अच्छा शॉट था, लेकिन कैमरा उन निशानों की तलाश में था जो उस तारीख में बने होंगे। कैमरामैन को जैसे अपसोस हुआ। एक भी निशान नहीं मिला, बूढ़ा उन जगहों पर दर्द बता रहा था, लेकिन कैमरामैन जैसे यह कह रहा था कि यह कैमरा है दर्द कहाँ सुनेगा, यह तो दर्द देखना चाहता है।*"[3] कैमरामैन अच्छे शॉट के लिए किसी भी हद तक जा सकता है। डाक्यूमेंटरी वाले रोशनी और ब्रजेन्द्र के परिवार वालों के साथ वैसा ही सलूक करते हैं जैसा गांव वालों ने किया था। यहाँ पर गालिब का एक शेर एकदम सटीक बैठता है-

'*जला है जिस्म जहाँ दिल भी जल गया होगा,*

---

[1] हंस, अगस्त 2006, पृ. 83

[2] वहीं, पृ. 85

[3] हंस, फरवरी 2007, पृ. ..

*कुरेदते हो जो अब, राख जुस्तजू क्या है।'*

*हंस के अप्रैल 2007 में छपी ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'प्राइवेट वार्ड' दो विचित्र विरोधात्मक स्थितियों को सामने लाती है। पहला, जैसा कि अन्तर्जातीय विवाह जातिवाद को तोड़ने का एक माध्यम माना जाता है। परंतु यहाँ विवाह करके भी लोगों को अपनी जाति छुपाकर रखनी पड़ती है। जातिवाद इतने गहरे पैठा है कि लोग खुलकर इसका विरोध करने से डरते हैं। और दूसरा, यह कि जो लोग बाहर जातिवाद और संप्रदायिकता का जोर-शोर से विरोध करते हैं, वे ही लोग अपने घरों में, रिश्तेदारों के बीच जातिवाद का दिल खोलकर समर्थन करते हैं। क्या ऐसी सोच वाले जातिवाद को और पुख्ता नहीं कर रहे हैं।*

*जून 2007 के अंक में छपी उर्मिला पवार की कहानी 'चौथी दीवार' में यह दिखाया गया है कि यदि वृद्धों को घर में रहने को नहीं मिलता है तो वे वृद्ध श्रम की शरण लेते हैं। परंतु दलित वृद्धों को वृद्ध श्रम में भी जगह नहीं मिलती, उनकी जाति यहां भी आड़े आ जाती है।*

हंस के सितंबर 2007 के अंक में छपी अजय नावरिया की कहानी 'चीयर्स ' में शिक्षण संस्थनों में चलने वाली (जातियता के आधार पर) गुटबाजी का अत्यंत सजीव वर्णन है। इसमें स्कूल दलित और गैर दलित शिक्षकों का अखड़ा बन चुका है। लाल साहब और शुक्ला जी समय-समय पर एक दूसरे को पटखनी देते रहते हैं। दोनों चाहते हैं कि सत्ता उनके हाथ में रहे और अपने-अपने वर्ग के लोगों के मालिक बने रहें। इस पर लेखक ने लिखा है कि -*"क्या एक बेजान और अस्थायी कुर्सी, एक जीवित मनुष्य को इस कदर मदहोश कर देती है कि उसे मनुष्य और मकोड़े में फर्क दिखाई देना बंद हो जाता है।"* [1] यहाँ पर जातिवादी गठबंधन का वही मंजर दिखाई देता है जो देश की राजनीति के केन्द्र में हमेशा रहा है। कथाकार अजय नावरिया कहानियों के माध्यम से उत्तरोत्तर संवेदनात्मक, वैचारिक बढ़ोतरी की ओर अग्रसर हैं। हंस में छपी उनकी कहानियाँ अलग-अलग पृष्ठभूमि पर लिखी गयी है, दलित साहित्य के विकास में ऐसे कहानीकारों का महत्वपूर्ण योगदान है।

---

[1] हंस, सितंबर 2007, पृ. 33

हंस दिसंबर 2007 के अंक में बुद्ध शरण हंस की 'कामरेड' और टेकचंद की 'अम्बेडकर जयंती' दलित साहित्य की दो महत्वपूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हुई। इसमें से पहली कहानी इस अंक के शुरूआत में छपी है और दूसरी अंत में। ये दोनों ही दो भिन्न यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं। एक में कम्यूनिस्टों के दलित विरोधी चरित्र का भण्डाफोड़ है तो दूसरे में खुद अम्बेडकरवादियों के गरीब विरोधी चरित्र का। जहां पहली जाति को प्रधान मानती है वहीं दूसरी वर्ग को प्रधान मानती है। पहली दोनों कहानियां एक दूसरे के विरोधी परिप्रेक्ष्य को सामने लाती हैं।

जहां पहली कहानी 'कामरेड' कम्यूनिस्टों के वर्गीय दृष्टिकोण की पोल खोलती है, और कामरेडों द्वारा दलितों के प्रति उदारतावाद के ढोंग को सामने लाती है। वहीं दूसरी कहानी 'अम्बेडकर जयंती' दलितों में उभर रहे मध्यवर्ग के चरित्र को सामने लगती है।

'कामरेड' कहानी के दोनों दलित पात्र गरीब नहीं हैं। उनमें से एक दलजीत राम पासवान सीधे-सीधे पूंजीपति वर्ग का है, दूसरा जंगबहादुर रविदास मध्यवर्गीय हैं। वे दोनों अम्बेडकरवाद को अपनी विचारधारा घोषित करते हैं । उनकी यह तरक्की गैर दलितों कम्युनिस्टों की आंख का कांटा बन जाती है। अतएव रणछोड़ और लुच्चामिसिर उन्हें कम्युनिस्ट बनाकर उनके अम्बेडकरवादी सोच को हड़प लेना चाहते हैं, पर असफल रहते हैं।

दूसरी कहानी 'अम्बेडकर जयंती' ने बिना कम्युनिस्ट बनाम अम्बेडकरवाद की बहस उठाये सीधे यह स्पष्ट किया है कि दलित गरीब और दलित अफसरों के हित एक नहीं हैं। दलितों में ऊपर उठ गये लोगों का अपना वर्ग है और वे उसी की चिंता करते हैं। वे गरीबों को अपने साथ लेने के लिए जातिगत भेदभाव की बात कर सकते हैं लेकिन वे जिस दुनिया में जीते हैं उसमें उनकी संपतिवान सवर्णों से तो एकता है लेकिन दलित गरीबों से नहीं। बलबीर मास्टर की शराब-कबाब की महफिल में हरिशंकर तिवारी हिस्सेदार होते हैं लेकिन रामरतन नहीं। रामरतन यहाँ अपना फर्ज समझ कर अंबेडकर जयंती की तैयारी करता है। बाद में उसे महसूस होता है कि वह अंबेडकर जयंती की तैयारी नहीं, मास्टर बलबीर की बेगारी कर रहा था। यही वह वर्गीय यथार्थ है जिसे 'हंस' पिछले दसियों साल से धुंधला करने का प्रयास कर रहा है।

हंस अक्टूबर 2008 के अंक में छपी सुशीला टाकभौरे की कहानी 'बदला' दलितों में आयी चेतना को रेखांकित करती है। अब दलित गैर दलितों के शोषण से बचने के लिए शहर की ओर पलायन नहीं करता, बल्कि वहीं गांव में रहकर उनका सामना करता है। इसमें छौआ भंगिन का नाती कल्लू, जाति के आधार पर होने वाले शोषण को बर्दाश्त नही कर पाता, और उन गैर दलित लड़कों को पीट देता है। बदले में कुछ गैर दलित धोखे से उस पर हमला कर देते हैं, वह अस्पताल में भर्ती होता है। इसपर कुछ शुभचिंतक जब उन्हें घर छोड़ने के लिए कहते हैं तो छौआ मां कहने लगी- " *अब हम किसी से नहीं डरेंगे... हम भी ईंट का जवाब पत्थर से देंगे.....वे शेर हैं तो हम सवा शेर बनकर रहेंगे। एक दिन ऐसा आयेगो कि लोग हमसे डरेंगे, मेरो कल्लू इसी गांव में रहेगा, शेर बनकर।*"[1] इस बदले की भावना ने दलितों में आत्मविश्वास को जगा दिया है। यह आत्मविश्वास दलित साहित्य को नये मायने में परिभाषित कर रहा है।

'हंस' में छपी दलित साहित्य की कहानियाँ दलित समाज की अलग अलग पृष्ठभूमि से ली गयी हैं। 2001-2008 तक की छपी कहानियों के माध्यम से दलित साहित्य में हुए परिवर्तन और दलित साहित्य के क्रमिक विकास को देखा जा सकता है। 'हंस' ने कहानियों के माध्यम से कई नये दलित कहानीकारों को प्रतिष्ठित किया है। 'हंस' के पाठक मास्टर सूरजदीन ने लिखा है- "*हंस एक विश्वविद्यालय है जिसके राजेन्द्र यादव वाइसचांसलर हैं। रूपनारायण सोनकर, अजय नावरिया व शैलेन्द्र सागर जैसे साहित्यकार पैदा हो रहे हैं।*"[2]

## ( घ ) लेख

हंस पत्रिका ने जिस तरह से दलित कविताओं, आत्मकथाओं, कहानियों को छापकर हिन्दी साहित्य को जन-जन तक पहुँचाया है, उसी तरह से दलित साहित्य के वैचारिक लेखों को छापकर दलित सोच, उसमें हो रहे परिवर्तन को भी रेखांकित किया है। दलित साहित्य प्रारंभ से ही विवादों के घेरे में रहा है। इसकी स्वतंत्रत अस्मिता प्रश्नों के कटघरे से दो चार होती रहती है। भारतीय समाज ने जिस तरह दलित का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया

---

[1] हंस, अक्टूबर 2008, पृ. 57

[2] हंस, दिसंबर 2004, पृ. 4

था, उसी तरह से दलित साहित्य को भी नये-नये तरीकों से अस्वीकार करने का प्रायास किया है। इसी स्वीकार- अस्वीकार के पूरे उपक्रम में कुछ एक सवाल बहुत तीव्रता से और दीर्घ समय तक उठे हैं। जैसे दलित साहित्य क्या है? क्या गैर दलित द्वारा दलित विषयक साहित्य दलित साहित्य है? आदि। 'हंस' ने समय-समय पर लेखों, बहसों के माध्यम से सुलझाने की कोशिश की है।

हंस जनवरी 2001 के अंक में छपे लेख 'हिनदी उपन्यास: दलित विमर्श का पुराख्यान' में तेजसिंह ने दलित विमर्श और दलित चेतना के अंतर को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार "*इधर जब से हिन्दी क्षेत्र में दलित साहित्य पर चर्चा शुरू हुई है, तभी से हिन्दी साहित्य में दलित चेतना या दलित विमर्श के नाम पर गैर दलितों द्वारा शोधकार्य के साथ-साथ काफी संख्या में आलोचनात्मक लेखन होने लगा है। ज्यादातर ऐसा शोध-लेखन दलित साहित्य को दिग्भ्रमित करने के लिए किया जा रहा है। गैर दलित इसी इरादे से हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के नाम पर दलित विमर्श कर रहे हैं। ताकि दलित साहित्य में उनकी चोर दरवाजे से घुसपैठ हो जाए। यह इस हठधर्मिता का ही परिणाम है, कि बलात् हिन्दी साहित्य में दलित चेतना खोजी जाने लगी है।*" [1] यहाँ पर उनका मानना है कि हिन्दी साहित्य में दलितों के उत्पीड़न, शोषण आदि को हूबहू चित्रित किया गया है, जबकि दलित साहित्य में उससे छुटकारा पाने की भी कोशिश की गयी है। हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श दिखाई देता है। जबकि दलित साहित्य दलित चेतना की बात करता है। दलित विमर्श और दलित चेतना का अंतर स्पष्ट करते समय तेज सिंह ने लिखा है- "*दलित विमर्श का वास्तविक अर्थ है गैर दलित साहित्यकारों द्वारा दलित समाज के लोगों के दुख दर्द के प्रति सहानुभूति दिखाना या ज्यादा से ज्यादा उनके उत्पीड़न, शोषण स्थितियों की जानकारी देना। यह भी कह सकते हैं कि गैर दलित साहित्यकारों का मुख्य उद्देश्य समाज की सामाजिक आर्थिक समस्याओं का लेख-जोखा प्रस्तुत करके उनके प्रति सहानुभूति दिखाकर अपने आपको [2] मानवतावादी साहित्यकार सिद्ध करना है, जबकि इसके विपरीत दलित समाज के लोगों की आशाओं आकांक्षाओं और दुख दर्द की यथार्थ अभिव्यक्ति के*

---

[1] हंस जनवरी 2001, पृ. 28

[2] हंस जनवरी 2001, पृ. 28

*साथ-साथ सामाजिक आर्थिक विषमताओं से मुक्ति, शोषण उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह की चेतना है। इस तरह दलित चेतना का विकास दलित साहित्य में ही संभव है।"*[1] यहाँ पर दलित साहित्य और गैर दलित साहित्य के अंतर को भी देखा सकता है। तेजसिंह ने अपने लेख में शुरू से लेकर बीसवीं सदी तक के हिन्दी उपन्यासों में दलित समाज की सामाजिक आर्थिक समस्याओं को दूसरे ढंग से उठाया है। इसमें छुआछूत, जातिवाद कोई सामाजिक समस्या नहीं है। 'आदर्श हिन्दू' में लज्जाराम मेहता लिखते हैं- "*यदि आपने उनका पेशा छुड़ाकर उन्हें उच्च वर्णों में संयुक्त कर लिया तो किसी दिन आपको नाई, धोबी, भंगी और चमार नहीं मिलेगा। उस समय आपको उन लोगों की जगह लेनी पड़ेगी, उनके उच्चवर्ण में शामिल हो जाने से हिन्दू समाज अधर्म की गर्त से डूब जाएगा। इसलिए ब्राह्मणों को ब्राह्मण रहने दीजिए यानी शूद्रों को शूद्र, ब्राह्मण से जूता सिलवाने का काम न लीजिए"*[2] इसी लिए सवर्ण रचनाकार प्रेमचंद, निराला उग्र भैरव प्रसाद गुप्त रांगेय राघव' आदि हिन्दी लेखकों को चाहकर भी छोड़ नहीं पाते हैं। तेजसिंह के शब्दों में- "*सवर्ण उपन्यासकारों की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि वे दलितों में संघर्ष और एकता की हल्की सी चेतना उत्पन्न करेंगे और जब वे अपने जनतांत्रिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ जाएंगे तो उनके कदम पीछे खींचकर उन्हें समझौतावाद की ओर ले जाएंगे।"*[3] इस आधार कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य गैर दलितों की वर्चस्वशाली संस्कृति से लबरेज है। दलित साहित्य इसी वर्चस्ववादी संस्कृति के विरुद्ध आम आदमी की चीख है जो निरंतर अपने परिष्कार से क्रांति का रूप ले रही है।

हंस अप्रैल 2001 के अंक में 'दलित साहित्य का सृजन उत्तरदायित्व किसका है' नामक लेख में बंशीधर त्रिपाठी मूल बात यही स्वीकारते हैं कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य कहा जा सकता है, क्योंकि दलितों की अनुभूति ज्यादा प्रमाणिक है। परंतु वे यह भी स्वीकारते हैं कि दलित साहित्य में अनुभूति की पूंजी होने के बावजूद अब भी उसमें कच्चापन दिखाई देता है। यह कच्चापन दलित साहित्य में क्यों है? इस पर विचार करते हुए वंशीधर त्रिपाठी ने लिखा है- "*साहित्य सृजन की दो*

---

[2] वहीं, पृ. 29

[3] वहीं, पृ. 31

*सीढ़ियां अथवा पायदान होते हैं- करण और अपादान। करण का अर्थ है सायास। साहित्य सृजन के पूर्व सर्जक में आलस्य का भाव रहता है। इसे इनर्शिया कहते हैं। इनर्शिया (जड़त्व) के कारण सर्जक में सृजन की नैसर्गिक प्रेरणा का उदय नहीं हो पाता। संकल्पशील दृढ़ प्रतिज्ञ सर्जक हठात् सृजन के लिए स्वयं को बाध्य करता है, सायास सृजन करता है। सापास सृजित साहित्य की गुणवत्ता सामान्य कोटि अथवा निम्न कोटि की होती है। पर यदि साधना चलती रहे तो साधक क्रमशः अपादान की सीढ़ी पर पहुँच जाता है। इस सीढ़ी पर आरूढ़ होने के बाद साधक की इनर्शिया समाप्त हो जाती है।.....बिना करण पर आरूढ़ हुए वह आपादान की स्थिति में नहीं पहुँच सकता। वर्तमान स्थिति कुछ ऐसी है कि दलित वर्ग करण-चरण की ओर चेष्टित नहीं हो रहा है, जब तक उसमें ऐसी चेष्टा नहीं जगेगी उसकी स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन संभव नहीं है।"* [1] यहाँ देखा जा सकता है कि त्रिपाठी जी बड़े ही मनोयोग से दलितों द्वारा लिखे गये साहित्य को ही ज्यादा प्रामाणिक मानते हैं। परंतु अंत में जाकर करण-अपादान के चक्कर में संस्कृत काव्यशास्त्र में 'काव्यहेतु' (प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास) को दलित साहित्य पर थोप देते हैं।

हंस जुलाई 2001 में रूद्रकांत अमर का लेखक 'बेदों के विरूद्ध उपनिषद' में उपनिषदों को वेदांत न मानकर वेदों के विरोध में खड़ा एक ऐसा दर्शन माना गया है जिसमें वैदिक कुरीतियों पर प्रहार किया है। उदाहरणस्वरूप, 'मुण्डक उपनिषद' में यज्ञों को टूटी-फूटी नौका कहा गया है। 'छांदोग्य उपनिषद' में पुरोहितों की शोभा यात्रा को कुत्तों की शोभायात्रा के समान माना गया है आदि। फिर भी परंपरावादी उपनिषदों को वेदों का अंतिम अंश बताते हैं तो इस पर रूद्रकांत अमर ने लिखा है- *"चार्वाक के विद्रोह को बृहस्पति से जोड़कर कुंद कर दिया गया। कहानी गढ़ी गयी कि असुरों के विनाश के लिए देवगुरू ने चार्वाक दर्शन का सूत्रपात किया था। फिर जिस परंपरा के खिलाफ गौतमबुद्ध महान का आर्विभाव हुआ था उसी वेदवादी परंपरा ने उन्हें अपना अवतार घोषित कर लिया। ठीक यही हश्र हुआ उपनिषदों का।"* [2] यानि गैर दलितों की वर्चस्वादी संस्कृति के समानान्तर सामान्य लोगों की प्रतिरोधी संस्कृति भी शुरू से चली आ रही थी। परंतु गैर दलितों ने

---

[1] हंस, अप्रैल 2001, पृ. 31

[2] हंस जुलाई 2001, पृ. 23

उसकी धार को कुंद कर दिया था। या उसका नोटिस नहीं लिया गया। क्योंकि सत्ता पर गैर दलित ही काबिज थे फलतः धर्म, अर्थ, राजनीति और संस्कृति पर भी उनकी विचारधारा हावी थी।

हंस, दिसंबर 2001 के अंक में बजरंग बिहारी तिवारी के लेख 'दलित कहानियों का परिदृश्य' में तीन प्रमुख दलित कथाकारों की कहानियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसमें पहले कहानीकार मोहनदास नैमिशराय के कहानीसंग्रह 'आवाजें' पर बात की गयी है। पत्रकार मोहनदास नैमिशराय की कहानियों में पत्रकारिता का पुट मिलता है। वे सच्ची घटनाओं से अपनी कहानियों को बुनते हैं। उदाहरणस्वरूप मेरठ में 30 मार्च 1994 को बाबा साहब अम्बेडकर की प्रतिभा लगाने को लेकर पुलिस और दलित युवकों के बीच जो खूनी संघर्ष हुआ था। उनकी कहानी 'अधिकारचेतना' उसी पर आधारित है। तिवारी जी ने इनकी कहानियों के बारे में लिखा है- "*एकमात्र उत्पीड़न को ही कहानी रचना का उत्प्रेरक मानने की जिद दलित कहानियों को एकरस बना देती है। इस प्रवृत्ति से दलित जीवन के दूसरे पहलुओं की उपेक्षा होती है। नैमिशराय ने जहाँ भी बंधी लीक से थोड़ा अलग चलने की कोशिश की है। उनकी कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं। 'गंजा पेड़ और 'बारिश' सवर्ण अत्याचार के साये से मुक्त कहानियाँ हैं।*" [1]

यहीं हम संग्रह की अंतिम कहानी 'महाशूद्र' को देख सकते हें जिसमें लेखक ने मरघट में आए मुर्दों का अंतिम संस्कार करने वाले ब्राह्मण और डोम दोनों की स्थिति का चित्रण किया है। इसमें नंदू डोम और आचार्य जी दोनों परिवारों का गुजारा मरघट से चलता है इसलिए दोनों अपने-अपने समाज में तिरस्कृत हैं। इसके बारे में लेखक ने लिखा है - "*दलित आलोचना के प्रचलित प्रतिमानों से जांचे तो एक ब्राह्मण के अंतर्मन का यह चित्रण स्वानुभूति के द्वारा नहीं सहानुभूति के द्वारा संभव हुआ है और इस वजह से उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है।*" [2] यहाँ पर सवाल उठता है कि जहाँ दलित लेखक गैर दलितों द्वारा किये गये उत्पीड़न का जिक्र करता है तो आलोचक एकरसता का आरोप लगता है और जहाँ वह लीक से हटकर 'महाशूद्र' जैसी कहानी लिखता है तो उसे

---

[1] हंस, दिसंबर 2001, पृ. 25

[2] हंस, दिसंबर 2001, पृ. 26

स्वानुभूति-सहानुभूति से तौला जाता है। तो लेखक नयी सोच कहां से लाये, हांलाकि स्वानुभूति के प्रतिमान दलित आलोचना के हैं, फिर भी।

दूसरे कहानीकार सूरजपाल चौहान की कहानी संग्रह 'हैरी कब आएगा' की बात की गयी है। इनकी कहानियों के बारे में बजरंग जी ने लिखा है- *"सूरजपाल चौहान की कहानियों के पीछे प्राय: दलित अपमान की कोई घटना, सवर्ण मानसिकता का कोई पहलू दलित विरोधी स्थिति के प्रति कोई प्रतिक्रिया, सामाजिक जागरूकता पर कोई टिप्पणी होती है। इन्हें परंपरागत अर्थ में संदेश प्रधान कहानियाँ तो नहीं कहा जा सकता पर ये इस प्रवृत्ति से बिल्कुल मुक्त नहीं हैं।"* [1]

तीसरे कहानीकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी संग्रह 'सलाम' पर बात की गयी है। कहानीकार ओम प्रकाश वाल्मीकि को संभावनाशील कहानीकार मानते हुए वे लिखते हैं- *"दलित कहानियों के पात्र स्वाभाविक रूप से अपनी सामाजिक पहचान के साथ आए हैं। इनका सामाजिक अमूर्तन दलित पाठक की उत्सुकता का शुरू में ही शमन कर देता है। कहानी में उसकी भूमिका पूर्व निर्धारित लगती है और व्यवहार प्रत्याशित। यह पद्धति कहानी लेखन को आसान बना देती है। समुदायपरक वर्गीकरण आत्यंतिक आग्रह की ऐसी विभाजक रेखा खींचता है कि दलित और गैर दलित या तो एक दूसरे से अजनबी लगते हैं या कट्टर शत्रु। संवाद की सारी गुजाइश खत्म हो जाती है। वैचारिक आवाजाही का कोई रास्ता बचा नहीं रहता। इस प्रवृत्ति की अ-सर्जनात्मकता को संभावनाएं तलाशी। 'सलाम' कहानी में हरीश दलित और कमल सवर्ण होने के बावजूद मित्र हैं।"* [2] कुल मिलाकर बजरंग बिहारी तिवारी ने तीनों कहानीकारों के कहानियों के माध्यम से दलित साहित्य के विकास को रेखांकित किया है।

फरवरी 2002 के अंक में ब्रजरंजन मणि का लेख 'ब्राह्मणवादी राष्ट्रीयता और फासीवाद अर्थात् मनु का ब्राह्मण और नीत्शे का सुपर मैन में स्मृतियों, पुराणों महाभारत, गीता, रामायण आदि जिन्हें हिन्दू अपनी कल्याणप्रद पोथी मानते हैं, उनमें औरतों और शूद्रों के लिए विष भरा हुआ है। ये सभी पोथियाँ ब्राह्मणों के पोषण और शूद्रों और

---

[1] हंस, दिसंबर 2001, पृ. 27

[2] हंस, दिसंबर 2001, पृ. 27

औरतों के शोषण के लिए ही रची गयी हैं। देश में हमेशा से दो विचारधारायें रही हैं। ब्राह्मणवादी और श्रमणवादी, श्रमण लोग बौद्ध, जैन, आजीवक और इस तरह के अनेक मत-मतांतर को मानने वाले नेता जन सामान्य थे जो ब्राह्मणवाद के प्रबल विरोधी थे जिनके विश्वास और सोच-विचार वेद और धर्मशास्त्रों के प्रतिकूल थे, जातिवर्गों से ऊपर उठकर श्रमण एक व्यापक मानवतावाद में विश्वास करते थे। बाद में चलकर कबीर, नानक और फिर आधुनिक काल में फूले, पेरियार, अम्बेडकर ने वर्ण और धर्म का विरोध कर मानवतापरक श्रमणवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। दुर्भाग्य से समानता और मानवीयता पर आधारित श्रमणिक परंपरा कई कालखंडों और स्थितियों में वर्णवाद और ब्राह्मणवाद को पटकनी देकर भी निर्णायक रूप से हरा नहीं पाई। उदाहरणस्वरूप, बौद्धों ने लम्बे समय तक ब्राह्मणवाद से देश की जनता को मुक्त किया, किंतु आठवीं सदी तक आते-आते ब्राह्मणवाद द्वारा उसे अपने में मिला लिया गया-बौद्ध को विष्णु का अवतार बताकर। इसी तरह मध्यकाल में आए निम्नवर्ग के संतों- कबीर, रैदास आदि ने मध्यकालीन धार्मिकता के माध्यम से जिस बदलाव के लिए एक सशक्त संघर्ष की शुरूआत की थी, उसे बाद में तुलसी जैसे घोर वर्ण वादियों ने तहस-नहस कर दिया। *आधुनिक काल में '1927 में महाद में अम्बेडकर और उनके साथियों पर सार्वजनिक तालाब से पानी लेने-पीने के सवाल पर जब सवर्ण लाठियाँ बरसा रहे थे उसी समय राधाकृष्णन आक्सफोर्ड में हिन्दू जाति प्रथा और समाज व्यवस्था को सर्वोच्च आध्यात्मिकता और धार्मिकता के दृष्टिकोण से महान और उदात्त बतलाते हुए अपना गौरवगान कर रहे थे।"* [1] ब्रजरंजन मणि अपने लेख के माध्यम से यही तथ्य स्पष्ट कर रहे हैं कि ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद दोनों एक-दूसरे को पटकनी देते रहें हैं। परंतु हर बार ब्राह्मणवाद अपनी साजिशों के तहत श्रमणवाद को दबोचे रहा है। अतएव भारत हमेशा ब्राह्मणवादी परंपरा ले संचालित रहा है।

हंस ने चालीस साल पहले 1962 में कल्पना में छपे ओमप्रकाश दीपक के लेख 'जाति व्यवस्था और साहित्य' को अप्रैल 2001 के अंक में पुन: प्रकाशित कर दलित साहित्य को और समृद्ध बनाया है। आश्चर्य है कि जब दलित साहित्य अस्तित्व में भी नहीं आया था उस समय एक सवर्ण लेखक ने दलितों की आवाज को उठाने की ईमानदार

---

[1] हंस, फरवरी 2002, पृ. 29

कोशिश की है। इसके बारे में वीरभारत तलवार ने लिखा है कि - *चालीस साल पहले 1962 में कल्पना (हैदराबाद) में छपा ओम प्रकाश दीपक का यह लेख ऐतिहासिक महत्व का है। उस जमाने में हिंदी में दलित साहित्य का कोई आंदोलन नहीं था और न हिंदी प्रदेश में दलितों की कोई अलग प्रभावशाली राजनीति थी, जैसी आज बहुजन पार्टी है।"* [1] ऐसे में एक सवर्ण लेखक द्वारा जातिवाद व्यवस्था पर खुलकर लिखना समन्वयवादी विचारधारा को बढ़ावा देता है।

हंस अगस्त 2002 के अंक में छपे लेख 'श्रमणवादी परंपरा, मार्क्सवाद और फूले' में ब्रजरंजन मणि ने भारतीय मार्क्सवादी विचारधारा की रेखांकित किय है। भारत के मार्क्सवादी जिनकी बागडोर उच्चवर्णीय कामरेडों के हाथों में थी। जाति व्यवस्था की भयावहता को वे समझ ही नहीं पाए और वास्तविकता को 'सुपर स्ट्रक्चर' कहकर उन्होंने खारिज कर दिया। ब्रजरंजन लिखते हैं कि- *"कुछ अपवादों को छोड़कर अब तक मार्क्सवादियों ने वर्गीय राजनीति का इस्तेमाल जाति-वर्ण की सच्चाइयों से कतराने में किया, यहाँ के मार्क्सवादी, फूले-अम्बेडकर को कभी समझ नहीं पाए।"* [2]

इसी अंक में छपे 'दलित धर्म और दर्शन' नामक लेख में तेज सिंह ने डॉ. धर्मवीर व जय प्रकाश कर्दम के विचारों की पड़ताल करते हुए कहा है कि उनके विचार दलितों को दिग्भ्रमित कर ब्राह्मणवाद और हिंदुत्व को बल प्रदान करने वाले हैं। अम्बेडकर और अम्बेडकरवाद को दलितों के स्वाभिमान, समता, स्वतंत्रता के संघर्ष को सही खतरा छद्म अम्बेडकर वादियों से है। *"एक तरफ जहाँ डॉ. धर्मवीर वुद्ध चिंतन के आधार पर डॉ. अम्बेडकर का बौद्ध धर्म में दीक्षा लेना 'ऐतिहासिक भूल' मानते हैं, और कबीर और रैदास को मिलाकर 'चमर-जुलाहा' धर्म' को दलितों के धर्म का विकल्प बताकर जातिवाद की शरण में चले जाते हैं, वहीं दूसरी तरफ जय प्रकाश कर्दम भाषा, साहित्य, संस्कृति,दर्शन को धर्म से जोड़कर अपनी बहस को धार्मिक तत्ववाद पर कोंद्रित कर देते हैं*

---

[1] हंस, अप्रैल 2002, पृ. 29

[2] हंस, अगस्त 2002, पृ. 28

*कि 'प्रत्येक साहित्य किसी न किसी धर्म से प्रभावित रहा है।"* [1] इसलिए दलित साहित्य को बरगलाने वालने छद्म अम्बेडकर वादियों से बचना चाहिए।

दिसंबर 2002 के अंक में अशोक भारती के लेख 'शहीद भगत सिंह और दलित' में दलितों के प्रति भगत सिंह के विचारों को रेखांकित किया गया है। भगत सिंह नरे क्रांति की असली जिम्मेदारी अछूतों को ही सौंपी उन्होंने दलितों को ही असली सर्वहारा और आधार माना और कहा- *"तुम (अछूत) असली सर्वहारा हो.....संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी, बस गुलामी की जंजीरे कट जाएंगी। उठो और वर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध बगावत खड़ी कर दो। तुम ही देश का मुख्य आधार हो। वास्तविक शक्ति हो, सोये हुए शेरों! उठो और बगावत खड़ी कर दो।"*[2] भगतसिंह के इस कथन में हम डा. अम्बेडकर के इस कथन की साम्यता देख सकते हैं- *"दलितों तुम विद्रोह करो, तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है, मगर पाने के लिए आजादी है।"* [3] भगत सिंह की आजादी की लड़ाई को 'मुक्ति संग्राम' का मुद्दा मानते थे। उनके अनुसार- *"हमारी आजादी का अर्थ केवल अंग्रेजी चंगुल से छुटकारा पाने का नाम नहीं, पूर्ण स्वतंत्रता का नाम है। जब लोग परस्पर घुल-मिलकर रहेंगे और दिमागी गुलामी से आजाद हो जाएंगे।"* [4] इस आधार पर हम भगतसिंह के विचारों को डा. अम्बेडकर द्वारा किया गया 'दलित मुक्ति आंदोलन' का पूर्ववर्ती चरण मान सकते हैं।

हंस मार्च 2003 में छपे लेख 'दलित साहित्य: पहचान और पूर्वानुमान' में सुरेन्द्र 'अज्ञात' ने दलित साहित्य की वैचारिकी और उद्देश्य को बड़े ही सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया है। दलित साहित्य के 'दलित' की व्याख्या करते हुए सुरेन्द्र अज्ञात ने लिखा है- *"दलित साहित्य के 'दलित' को 'अम्बेडकरी' दृष्टिकोण से* subltern *कहा जा सकता है जो ऐसी मानवता का प्रतिनिधि है जो बहुआयामी व बहुपक्षीय मानवीय स्वतंत्रता और समानता के संदर्भ में किसी भी पहलू से पीछे, नीचे या वंचित हैं। इस तरह दलित साहित्य को ऐसे शोषितों का साहित्य कहा जा सकता है, जो अन्य सभी तरह के शोषण*

---

[1] हंस अगस्त 2002, पृ. 43

[2] हंस दिसम्बर 2002, पृ. 43

[3] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 68

[4] हंस, दिसंबर 2002, पृ. 58

*के साथ-साथ जाति आधारित शोषण के भी शिकार हैं।"* [1] दलित साहित्य के पूर्वानुमान पर बात करते हुए वे कहते हैं कि जरूरी यह है कि दलित साहित्य को हम किन अर्थों में ग्रहण करते हैं। संकीर्ण अर्थों में वा व्यापक अर्थों में। संकीर्ण अर्थों वाला दलित साहित्य जाने अनजाने जाति की रेखाओं को और गहरी करेगा, एक अलग तरह का ब्राह्मणवाद जन्म लेगा। जबकि व्यापक अर्थों वाला दलित साहित्य कभी न कभी मानवता के इतिहास में सुनहरा प्रभात लेकर आएगा, जो दूसरे साहित्यिक सरोकारों के साथ-साथ मुक्तिदाता की भूमिका भी निभाएगा।

हंस जुलाई 2003 के अंक में छपा वीरभारत तलवार का लेख 'दलित, अंग्रेज और हिंदी' दलित लेखक चंद्रभान के कथन 'हिंदी एक भाषिक बुराई है।' और दूसरी यह कि अंग्रेज इस देश में बहुत देर से आए और बहुत जल्दी चले गये।" पर आधारित है। इसमें उन्होंने लिखा है कि- *"अंग्रेजों का भारत आना एक ऐतिहासिक घटना साबित हुई जिसने द्विजों को मुसलमानों के कठिन दंड से छुड़ाया, समाज को उसके पुराने ढांचे के दंड से छुड़ाया। स्त्रियों को अज्ञानता के दंड से तो दलितों को ब्राह्मणों की बनाई व्यस्था के दंड से छुड़ाया।"* [2] भारतेन्दु से लेकर बंकिम चंद्र चटर्जी तक जब अंग्रेजों का गुणगान करते हैं तब कोई बात नहीं परंतु जब कोई दलित उनका गुणगान करता है तो उसे राष्ट्रद्रोही की संज्ञा दी जाती है। हांलाकि अंग्रेजों से ज्यादा फायदा द्विजों को हुआ जैसा कि महात्मा ज्योतिबा फूलो ने अपने ग्रंथ 'गुलामगीरी' में लिखा है कि - *"अंग्रेजी राज में भी चारों ओर ब्राह्मणों के हाथ में सत्ता होने की वजह से वे अज्ञानी और शूद्र रैयत को ही नहीं, सरकार को भी नुकसान पहुँचाते थे....ब्राह्मणों के इस व्यवहार के बारे में सरकार को भी जानकारी है, फिर भी अंग्रेज सरकार अंधे होने का स्वांग लेकर केवल ब्राह्मण अधिकारी, कर्मचारियों के कंधे पर अपना हाथ रखकर उनकी नीति से चल रही है।"* [3] इससे साफ पता चलता है कि दलितों के जीवन में महत्वपूर्ण बदलाव के रास्ते खोजने के बावजूद अंग्रेजी हुकूमत दलितों के पक्ष में नहीं थी।

---

[1] हंस, मार्च 2003, पृ. 37

[2] हंस, जुलाई 2003, पृ. 52

[3] हंस, जुलाई 2003, पृ. 53

चंद्रभान की दूसरी बात 'हिंदी एक भाषिक बुराई है' के बारे में विचार व्यक्त करते हुए वीरभारत तलवार बताते हैं कि चन्द्रभान जिस नज़र से हिंदी और दूसरी भाषाओं की आलोचना करते हैं। वह वर्ण और जाति की संस्कृति और उसके दलित विरोधी मूल्यों से दूषित है। जिसमें 'साले, सब चोरी-चमारी करते हैं' जैसे मुहावरे प्रचलित हैं इस भाषा को आप क्या कहेंगे? यहाँ पर वीर भारत तलवार लिखते हैं- "*भाषा कोई जड़ चीज नहीं होती है। उसका प्रयोग हर समाज और वर्ग अपनी जरूरतों के मुताबिक अपने हितों में करता है। आज विभिन्न भारतीय भाषाएँ दलित चेतना के विकास और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हुई हैं।*"[1] इस तरह भाषा अपने समाज और सत्तापक्ष के भाव के मुताबिक बदलती रहती है।

नवंबर 2003 के अंक में छपे लेख 'बैंकुवर में दलित सम्मेलन' में श्यौराज सिंह 'बेचैन' बताते हैं कि भारतीय दलितों की स्थिति में अब तक कोई सुधार नहीं हुआ है, जबकि जो दलित विदेशों में जा बसे हैं, उन्होंने अपनी दशा में गजब का सुधार किया है।

हंस अगस्त 2004 का अंक दलित विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। इसमें स्वानुभूति, वैचारिकी, कहानियाँ, कविताएँ साक्षात्कार सभी का संयोजन मिलता है। वैचारिकी में पहला लेख डा. तुलसीराम का 'बौद्ध धर्म तथा वर्ण व्यवस्था' छपा है जिसमें वेदवादी परंपरा का नकार है। बौद्ध धर्म में संघ का निर्माण और उसमें भिक्षु-भिक्षुणियों का प्रवेश कर वर्णव्यवस्था को खत्म करने की कोशिश की गयी। क्योंकि संघ में आने के बाद लोग अपने जाति वर्ग, गोत्र को खो बैठते हैं।

हंस अगस्त 2004 के अंक में चन्द्रभान प्रसाद के लेख "बौद्धिकता के अंकुर अभिजात वर्ग से' में यह बताया गया है कि श्रेष्ठतम बौद्धिकता की उपज पर्याप्त समय, पर्याप्त संसाधन, पर्याप्त संपर्क से ही होती है। इन सबके अभाव में मनुष्य बुद्धिजीवी नहीं हो सकता। इसलिए दलितों में अभिज्ञात वर्ग होना जरूरी है क्योंकि जब तक दलित भारती की संपदा में बड़े भागीदार नहीं बनेंगे, तब तक दलित मुक्ति का आंदोलन फंसा रहेगा। चन्द्रभान के शब्दों में, "*दलितों में अभिज़ात्य वर्ग के उदय के साथ ही विगुल बजेगा*

---

[1] हंस, जुलाई 2003, पृ. 53

*उस दलित मुक्ति का, जिसके केन्द्र में होंगे वे दलित जिन्हें दो जून का भोजन नहीं मिलता, जिनके बच्चे अक्षर से वंचित हैं। यही है कुंजी भारत में सिविल सोसायटी अभ्युदय की भी।"* [1] इस पर सवाल उठता है कि क्या कुछ दलितों के अभिजात्य हो जाने से गरीब दलित का भला हो सकता है। क्या दलितों की आर्थिक मजबूती दलितों के दायित्व से मुक्ति दिला सकती है? यहाँ कहा जा सकता है तब दलित पूंजीपति ही कहलायेगा।इसी अंक में छपा डॉ. धर्मवीर का लेख 'दोहरा अभिशाप' कितना दोहरा?' में दलित लेखिका कौसल्या वैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' की खूब आलोचना की है। उनकी यह आलोचना दलित साहित्य की वैचारिकी नहीं उनकी जिद को दर्शाती है। उन्होंने खुद कहा है कि *'कौसल्या वैसंत्री अपनी पुस्तक 'दोहरा अभिशाप' की भूमिका न लिखती, तो मुझे कुछ कहना ही नहीं था।'* [2]

इसी अंक में छपे लेख ' मैं दलित साहित्य का विरोधी हूँ' में रत्नकुमार सांभरिया ने 'स्वानुभूति, सहानुभूति' के प्रश्न पर दलित साहित्य को खारिज करते हुए लिखा है- *"दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का यह तिलिस्म दलित चेतना की राहें रोकेगा।"* [3] यहाँ पर कहा जा सकता है कि सांभरिया जी जिस आधार पर दलित साहित्य को खारिज कर रहें हैं, वे सहानुभूतिपरक किसी गैर दलित की रचना को देखें तो पता चलेगा कि वे रचनाएँ दलित साहित्य को बढ़ावा न देकर उसकी धार को कुंद कर देती हैं। इस अंक में छपी अन्य लेखकों की वैचारिकी दलित साहित्य के नकारात्मक-सकारात्मक दोनों पहलुओं को दर्शाती है।

हंस अगस्त-सितम्बर 2005 के दोनों अंक 'नैतिकता का टकराव' नाम से प्रकाशित हुए। अगस्त अंक में 'बौद्ध धम्म में नैतिकता' लेख में लेखक आनंद श्रीकृष्ण बौद्ध धम्म की नैतिकता के बारे में बताते हैं कि बुद्ध के दर्शन में पाखंड और व्यभिचार की जगह सिर्फ सदाचार का व्यवहार है। भारत में बौद्ध धम्म ही पहला नैतिकता आधारित धर्म है। इसमें स्त्री को उतनी ही स्वतंत्रता और अवसर प्रदत्त थे जितने पुरूष को। परंतु रोमिला थापर का अध्ययन इसे गलत (झूठ) साबित कर चुका है। उनके अनुसार-

---

[1] हंस, अगस्त 2004, पृ. 65

[2] वहीं, पृ. 66

[3] वहीं, पृ. 85

*"थेरीगाथा एक ऐसा बौद्ध ग्रंथ हैं जिसकी रचयिता स्त्रियाँ ही हैं। बौद्ध दंपति में किसी एक पक्ष पर जीवित न रहने पर दूसरे को पुनर्विवाह की इजाजत भी है जिससे नैतिकता वाधित नहीं होती।"* [1] इसके बरक्स नैतिकता के नाम पर हिंदू धर्म के पाखंड और यौन शोषण को डा. तुलसीदास के लेख 'धर्म सम्मत यौन-शोषण में नैतिकता' में देखा जा सकता है।

सितंबर 2005 के अंक में छपा ओमप्रकाश वाल्मीकि लेख 'दलित नैतिकता बनाम वर्चस्ववादी' में दलित नैतिकता पर बात करते हुए लिखते हैं- *"दलित नैतिकताएँ ईश्वरीय नहीं हैं, रोजमर्रा के जीवन की अच्छाईयों-बुराईयों पर आधारित जीवन की मानवीय संवेदनाएं और अनुभूतियाँ वहां ज्यादा लोकतांत्रिक और समाज सापेक्ष है। जिन्हें समझना और जानना उस हर एक व्यक्ति के लिए जरूरी है। जो समय के साथ बदलना चाहता था।"* [2] इसी तरह अजय नावरिया ने भी अपने लेख 'दलित नैतिकता यौन शुचिता नहीं यौन निष्ठा' में दलितों की नैतिकता को द्विज नैतिकता की यौन शुचिता के विपरीत मानवीय गरिमा की यौन-निष्ठा मानते हुए लिखा है - *"दलित समाज की नैतिकता उदार और आंडबर रहित नैतिकता है। यह समाज स्त्री पुरूष को दो विपरीत और विरोधी सत्ताओं के रूप में सहज ही स्वीकार करता है।"* यहाँ पर कहा जा सकता है कि दलितवादी मानवीय नैतिकता ब्राह्मणवादी पाखंडी नैतिकता के बरक्स एक स्वस्थ विचारधारा को सामने लाती है। अतएव जो लोग दलित साहित्य पर अश्लीलता का आरोप लकाते हैं, उन्हें सबसे पहले अपने धर्म ग्रंथों को टटोलना चाहिए।

हंस मई 2008 के अंक में मनोज कुमार श्रीवास्तव अपने लेख 'संत कवि रैदास और घेरने की बाजीगरी' में डा. धर्मवीर को पुस्तक 'संत रैदास का निर्वण सम्प्रदाय' की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि डा. धर्मवीर ने संत कवियों के आनोलोचकीय श्रद्धभव को खत्म करके संत साहित्य की अपर्याप्ताओं की चर्चा की तैयारी दिखाई है।

हंस में 2001 से 2008 तक छपे लेखों के माध्यम से हिन्दी दलित साहित्य में सहानुभूति, ब्राह्मणवादी बनाम श्रमणवादी संस्कृति, दलित धर्म और दर्शन को रेखांकित किया गया है।

---

[1] हंस, अगस्त 2005, पृ. 49

[2] हंस, सितंबर 2005, पृ. 20

# तृतीय अध्याय

## हिन्दी दलित साहित्य का विकास और 'हंस' पत्रिका

*"कहते हैं जब श्री रामचन्द्र समुद्र पर पुल बांध रहे थे, उस वक्त छोटे-छोटे पशु-पक्षियों ने मिट्टी ला- लाकर समुद्र के पाटने में मदद की थी। इस समय देश में कहीं विकट संग्राम छिड़ हुआ है। भारत ने शांतिमय समर की भेरी बजा दी है। हंस भी मानसरोवर की शांति छोड़कर अपनी नन्हीं सी चोंच में चुटकी भर मिट्टी लिए हुए समुद्र पाटने आजादी की जंग में योग देने चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत टूट रही है। लेकिन संघ शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है। समुद्र पटने से पहले ही उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाएगी या वह अंत तक मैदान में डटा रहेगा, यह तो ज्योतिषी ही जाने पर हमें ऐसा विश्वास है कि हंस की लगन इतनी कच्ची न होगी। यह तो हुई उसकी राजनीति, साहित्य और समाज में उन गुणों का परिचय देगा जो परंपरा ने उसे प्रदान किए है।"*[1]

*"हम इस हंस को प्रेमचंद की परंपरा से ही जोड़ना चाहते हैं। सामाजिक असमानता, अन्याय और शोषण के विरूद्ध संघर्ष, रूढ़ियों और आडम्बरों के खिलाफ जिहाद, शक्ति और सत्ता की अनीतियों, अत्याचारों का प्रतिरोध, यहीं चिंताएं और प्रतिबद्धताएं प्रेमचंद की भी थी अपने समय संदर्भ में। हंस प्रेमचंद की रूढ़ि से नहीं परंपरा से प्रतिबद्ध है। प्रेमचंद हमारे लिए मूर्ति या आदर्श से अधिक एक प्रेरणा और अंकुश है- ताकि प्रलोभनों और भटकाव के जंगलों में दिशा मिल सके।"*[2]

*"मेरा मानना है कि सामाजिक और साहित्यिक सरोकरों के बदलते रूपों से जूझते रहने की प्रक्रिया ने ही हंसको गतिशील पत्रिका बनाये रखा है। बदलते रहने के दौरान बहुत कुछ छूटा है तो नया जुड़ा भी है। एक बहुत बड़े वर्ग के लिए हंस मनोरंजन और फुरसती दिलचस्पियों की पत्रिका नहीं एक जरूरत बन गया है। मैं चाहूँ भी तो इस इमेज (छवि) से मुक्त नहीं हो सकता। यथास्थितिवादी सोच और अतीत के जगतगुरू संस्कारों वाली अन्य गेरूआ पत्रिकाओं में हंस निश्चय ही शूद्र पत्रिका है।"*[3]

उपरोक्त 'हंस' से तीनों अलग-अलग समय की संपादकीय से पता चलता है कि हंस शुरू से शुद्ध साहित्यिक पत्रिका के बजाय प्रगतिशील है। हंस शुरू से ही समकालीन

---

[1] हंस का पहला अंक, मार्च 1930

[2] हंस, अगस्त 1986

[3] हंस, अगस्त 2001

समाज राजनीति, इतिहास, संस्कृति आदि को भी देखने की दृष्टि देता है। हिंदी क्षेत्र एवं भारतीय सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ हिंदी साहित्य की महत्वपूर्ण समस्याओं एवं विषमताओं को अगस्त 1986 के संपादकीय काल में लगातार बहस का केन्द्र बनाये रखने वाले संपादक राजेन्द्र यादव ने साहित्यिक दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। यथास्थितिवादी दृष्टि से सतत संघर्षरत राजेन्द्र यादव ने हंस में सामाजिक विसंगतियों अन्तर्विरोधों के भयावाह रूप में समाज को व्यापक रूप से प्रभावित करने की क्षमता को जन चेतना पर आधारित प्रगतिशील दृष्टि से देखा है। परंपराप्रेमियों से लगातार वैचारिक, संघर्ष के ये विचार नयी सोच को विकसित करने में सफल रहे हैं। राजेन्द्र यादव ने 'हंस' पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-"*हंस कभी भी यथास्थितिवादी अतीतजीवी, जगद्गुरू कुंठा के अहंकारी प्रदर्शन और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी-बर्बर अवैज्ञानिकताओं का मंच नहीं रहा। न वह मनुष्य- विरोधी, हवाई अमूर्तनों के चौत्यचिंतन का चंडूखाना....हमारी प्रतिबद्धताएं बहुत साफ हैं। जो लोकतांत्रिक मनुष्य के हित में नहीं है। वह हमारी दुनिया नहीं है। हाशिए पर फेंक दिए लोगों की यातना, संघर्ष और सपनों को वाणी देने की प्रक्रिया में ही हंस ने अपनी 'स्वतंत्रता' बचा कर रखी है।*" [1] हंस की यह प्रगतिशीलता उसे अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं से अलग करती है। यह समय-समय पर सामाजिक और साहित्यिक सरोकारों के बदलते रूपों से जूझता रहा है। हांलाकि हंस द्वारा उठाये गये मुद्दों पर आलोचना भी होती है। परंतु जितनी इसकी आलोचना होती है उतना सराहा भी जाता है। आज देश के कोने-कोने में हंस के पाठक मौजूद हैं।

'हंस' की शुरूआत यदि राजेन्द्र यादव के संपादन से माने तो यहाँ पर हम 'हंस' के किशोरावस्था से युवा होने तक यानि 2001 से 2008 तक के हंस में आये प्रश्नों, मुद्दों खास कर हिंदी में हुए दलित साहित्य के विकास पर बात करेंगे।

नब्बे के दशक से ही 'हंस' पत्रिका के दायरे में स्त्री, दलित, पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यको की अस्मिताएँ शामिल रही है। हंस में आने के बाद हिन्दी दलित साहित्य की पहुँच मुख्यधारा में भी हुई। हिन्दी साहित्य की लोकप्रिय और महत्वपूर्ण पत्रिका होने के कारण 'हंस' हिन्दी भाषी लोगों द्वारा अधिकतर पढ़ी जाती रही है। परंतु 'हंस' में दलित

---

[1] हंस, अक्टूबर 2001, पृ. 4

साहित्य का प्रवेश हुआ तो एक तरफ जहाँ स्थापित विद्वानों में इसको लेकर बहसें शुरू हुई वहीं मुख्यधारा के लोगों को लगा कि हंस के माध्यम से उनके घर में अछूत घुस गए। परंतु धीरे-धीरे दलितों ने इन चुनौतियों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ना शुरू किया और गिरते-लड़खाते उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी पहचान को केन्द्र में ला खड़ा किया। राजेन्द्र यादव के शब्दों में- *"जब हंस पत्रिका में हमने दलित और स्त्री विमर्श पर ध्यान देना शुरू किया था तो हमें केवल इतना पता था कि स्त्री और दलित ही भविष्य की शक्तियां हैं। इन्हीं को भारतीय समाज में सदियों से दमन शोषण और उपेक्षा का शिकार होना पड़ा है। हमें विश्वास था कि जब ये शक्तियाँ उभरेंगी तो सृजन की एक खास ऊर्जा पैदा होगी। यह अनुमान कुछ-कुछ स्नोबालिंग जैसा है। बर्फ का एक छोटा टुकड़ा सुकढ़ता है तो धीरे-धीरे वह विशाल गेंद में बदल जाता है। मुझे खुशी है कि हम अपने उद्देश्य में कामयाब हुए। आज हर पत्रिका और संस्था के लिए वह जरूरी हो गया है कि अपनी बहसों और विमर्शों में स्त्री और दलित की बात करें।"*[i] इस तरह 'हंस' ने दलित साहित्य को मुख्यधारा में लाने की पुरजोर कोशिश की है।

'हंस पत्रिका ने अपने विषय सूची के हर कालम में हिन्दी दलित साहित्य को बखूबी उभारा है। वैसे दलित रचनाकारों के अध्ययन से हुए हिन्दी दलित साहित्य में विकास को इस प्रबंध में दूसरे अध्ययन में देखा जा चुका है अब यहां दलित साहित्य में वैचारिकी विकास में, विषय सूची के संपादकीय कालम- मेरी तेरी उसकी बात- बीच बहस रेतघड़ी के माध्यम से देखने की कोशिश की जा रही है। सर्वप्रथम 'मेरी-तेरी उसकी बात' नामक 'कालम' में राजेन्द्र यादव की संपादकीय का हिन्दी दलित साहित्य सहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। यह हंस की वह वैचारिक धारा है जो पाठक को भीतर से झकझोरती है जो पाठक इससे सहमत नहीं होते, वे तो तिलमिला उठते हैं, लेकिन जोइस धारा को आत्मसात करते हैं उन्हें एक नई ऊर्जा मिलती है। अतएव किसी भी पत्रिका की नींव संपादक द्वारा तैयार की जाती है। संपादक के महत्वपूर्ण योगदान के लिए दलित लेखक श्यौराज सिंह बेचैन ने लिखा है- *जन चेतना की मासिक पत्रिक हंस 1990 के बाद वास्तव में, या कहें वस्तु में लोकतांत्रिका हो रही है। संपादक राजेन्द्र यादव कीएक माह की*

---

[i] वसुधा, जुलाई-सितंबर 2003, पृ. 281

*अस्वस्थता ने यथास्थितिवादी सामग्री पर आधारित हंस के दो अंक निकाले गये। अतिथि संपादक ने तो हद ही कर दी। असल में जब आप समझते ही नहीं हैं इस दलित रचनात्मकता की गंभीरता को तो क्यों टांग अड़ाते हैं दलित साहित्य प्रक्रिया में?.....खैर अंदाज यह लगाया जाना चाहिए कि यादव जी सक्षम कलाम के बाद उनकी अनुपस्थिति में हंस कैसा होगा?"* [1] अतएव हंस के प्रगतिशीलता कुछ हद तक राजेन्द्र यादव के प्रगतिशील विचारों पर निर्भर है।

जनवरी 2001 के अंक में अपने संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने लिखा- *"विवेकानंद ने कहा था कि अपने देश की अगली सदी शूद्रो की होगी.....वह सदी तो अब शुरू हुई है।"* [2] भूमडलीकरण के तौर में मध्यवर्ग तेजी से अपनी अभिव्यक्तियों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी को चुन चुका है। इसलिए अगर हिंदी को किसी रूप में बने रहना है तो यह हाशियाकृत समाजों की आकांक्षाओं से जुड़कर ही संभव होगी। यानि दलित, स्त्री ही हिंदी को जिलाये रख सकते हैं। पहले उनकी भाषा हाशियकृत समाज की भाषा है। पर अब धीरे-धीरे पूरे समाज की भाषा बन रही है।

अब दलित वर्ग भी समाज में पहचाना जा रहा है। उसका विकास बहुत त्वरित गति से हो रहा है। दलित साहित्य के माध्यम से अभिजात्यवर्गीय द्वारा अब तक बनाये कसौटियों को चुनौती मिल रही है। अब रामविलास शर्मा या नामवर सिंह की आलोचना पद्धति से आप दलित साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकते हैं, समझ भी नहीं सकते हैं। इसके लिए बिल्कुल नए सिद्धांत तलाशने होंगे। इक्कीसवीं सदी को अस्मिताओं का काल कहा जा सकता है। गौरीनाथ के अनुसार- *"हमारे समाज के भीतर से ही जिस रूप में दलित चेतना जागृत हो रही है, पिछड़ों की ओर से सामाजिक न्याय की मांग उठ रही है। नारी चेतना या नारी मुक्ति की जो आवाज़ महिला संगठनों का महिला बुद्धिजीवियों की ओर सै आ रही है। वर्ग संघर्ष की जो लड़ाई, मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों, संस्कृतिकर्मियों और इससे जुड़े राजनीतिकर्मी समाजसेवी की ओर से जारी है- ये सब किसी भी हालात में*

---

[1] समकालीन हिंदी पत्रकारिता में दलित उचाव, पृ. 157

[2] हंस, जनवरी 2001, पृ. ...

*बेकार नहीं जा सकते।"*[1] ये सारी प्रतिरोधात्मक शक्तियां यदि एक हो जाएं और एक दूसरे का सहयोग करें तो वह दिन दूर नहीं कि वर्चस्ववादी समाज के बजाय मानवतापरक एवं समतापूरक समाज होगा।

हंस जुलाई 2001 के संपादकीय 'हंस' डेढ़ दशक लम्बी बहस' में राजेन्द्र यादव हंस के बनावट एवं बुनावट दोनों पर बात करते हुए समाज धर्म एवं सैक्स से उभरे प्रश्नों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनके अुनसार- *"हर रचना कहीं एक विचार भी है और जिरह भी घोषित या अधोषित.....हंस इन्हीं सामाजिक सेवाओं में विवाद संवाद का एक मंच है। यह भी निर्विवाद है कि ये सवाल हवाई नही होते-समाज धर्म, और सैक्स तीन ही ऐसे मोर्चे हैं। जहां परिवर्तन विरोधी अपने सुरक्षा दुर्ग बनाते हैं, हर बदलाव इन्हीं से जुड़े सवालों से जूझने और पुर्नविचार से शुरू होता है। जिसे हम यथास्थितिवादी कहते हैं। वह इन्हीं मुद्दों को पहले से तय मान लेता है यानि नई स्थितियों और चुनौतियों से कतराकर इन पर विचार न करने की जड़ता है। आप देखेंगे कि हंस पर पिछले पंद्रह सालों से जो आरोप लगाते रहे हैं। वे सिर्फ इन्हीं तीन पक्षों को लेकर है कि हंस में साहित्य कम राजनीति ज्यादा होती है। कभी मंडल तो कभी दलित, कभी मार्क्स तो कभी मनु, दूसरा भारतीय संस्कृति संप्रदायिकता और धर्म विरोध हंस का ऐसा हव्वा (आवसैशन) है जिससे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता, तीसरा स्त्री और सैक्स राजेन्द्र जी की अपनी कुठा है जिसे वे पूरे साहित्य पर लादकर प्रदूषण और अश्लीलता फैलाते हैं।"* [2]

यहाँ कहा जा सकता है कि यथास्थितिवादी हमेशा पूजनीय साहित्य चाहते हैं, जिस पर कोई टीका-टिप्पणी न कर सके। धर्मग्रंथों की तरह पाठ करें। परंतु जब से दलित स्त्री सिाहित्य आया है , तब से उनकी परंपरायें टूटने लगी हैं। जिस साहित्य को स्त्री दलित छू नहीं सकते थे, उसी में सेंध करके घुसे जा रहे हैं। यही बदलाव यथास्थितिवादियों को रास नहीं आ रहा है। जबकि युवा पीढ़ी काफी हद तक उसे स्वीकार करने लगी है। हंस के पाठक गौरव वाजपेयी इलाहाबाद से लिखते हैं - *"समूचे साहित्यिक परिदृश्य में आज जो स्थान हंस का है। वह किसी अन्य पत्रिका का नहीं है। और के आमतौर पर दो*

---

[1] हंस, फरवरी 2001, पृ. 6

[2] हंस, जुलाई 2001, पृ. 6

*चेहरे दिखाई देते हैं। ऊपर से चेहरा है, अन्दर से चक्कावदी। पर राजेन्द्र यादव का एक ही चेहरा है- बेबाक, निडर, कड़ियल, अड़ियल जवान बूढ़े का.....यही चेहरा हम नवोदित को भी पसंद है।"*

हंस अगस्त 2001 के संपादकीय 'इत्र कैसे बनता है' में जातिवाद के फैलाव को देखा जा सकता है। जातिवाद का प्रयोग राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, रहन-सहन में हर जगह व्याप्त है, परंतु जब वहीं जातीयता साहित्य में आ जाता है तो लोग इसका विरोध करने लगते हैं। उनका मानना है कि कला और साहित्य की दुनिया जातिवर्ण क्षेत्रीयता आदि से ऊपर होती है। उसे किसी जाति, धर्म से बांधना, छोटा करना है। इस पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं- *"1850 से 1950 तक सौ सालों का साहित्य क्यों मुख्यत: ब्राह्मणों तक सीमित रहता है। शेष जातियों का योगदान कुछ प्रतिशत से अधिक नहीं है। दलित महिलाएं और अल्पसंख्यक तो लगभग हैं ही नहीं। जहाँ समाज की संरचना ही वर्गों और वर्णों से बनी हो वहां एक वर्ग का वर्चस्व वैचारिक ऊर्जाहीनता, ठहराव या सड़ाध तो पैदा करेगा ही।"* [2]

सितंबर 2001 की संपादकीय में फूलनदेवी के बारे में लिखा गया 'हत्या एक आकार की' मन को झकझोर देती है। फूलन की चंबल घाटियों से संसद तक की यात्रा व्यक्तिगत विजय की नहीं बल्कि उस सामंती जाति संघर्ष का विमर्श भी है। फूलन उस स्त्री विमर्श के बाहर है, जो नारी उत्थान, नारी शक्ति की प्रतीक है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में- *"अपने आपकी स्त्री शक्ति की मुखर प्रवक्ता कहने वाली, ये नेत्री अभिनेत्रियां फूलन की बीहड़ों से संसद तक की यात्रा में कहीं कोई स्त्री विमर्श नहीं देखती। उसके मन में फूलन के लिए सहानुभूति नहीं घृणा है। बाकायदा चुनकर आई हुई एक अति पिछड़ी या दलित औरत इन्हें समाज की किसी उभरती हुई सच्चाई का संकेत नहीं देती। बेशक वह टी.वी., रेडियो अखबारों द्वारा हम तक आये मगर रहे वहीं जंगलों में।"* [3] अतएव तथाकथित नारी के सम्मान की शेखी बघारने वाले समाज के लोगों ने उस पर जुल्म ढाये हैं। वह सभ्य मानवता के नाम पर कलंक ही कहा जा सकता है।

---

[1] हंस, सितंबर 2001, पृ. 11

[2] हंस, अगस्त 2001, पृ. 5

[3] हंस, सितंबर 2001, पृ. 4

जनवरी 2002 के अंक में 'फिर जहाज पर आवै' संपादकीय में बताया गया है कि गैर दलितों ने दलितों-स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित रखा, उन्हें कभी अपने बराबर नहीं समझा, परंतु जब उन्होंने अपने अधिकार लेने के लिए कलम उठाई, समाज में पहचान बनानी शुरू की पहले तो गैर दलितों ने उन पर आरोप लगाकर रोकना चाहा, बाद में शामिल होकर अपने परंपराओं को उन पर थोपने का प्रयास किया है। *"अब नहीं मानते हो तो आओ भाई! तुम भी बैठो, यहाँ तो सभी की गुजांइश है। साहित्य का अर्थ ही है- सह अस्तित्व लेकिन देखो भाषा, शिष्टचार और स्तरीयता की हमारी शर्ते माननी होंगी उनके बिना साहित्य नहीं होता, मानदंड और सौंदर्यशास्त्र हमारे ही रहेंगे, रचना उन पर खरी उतरेगी, तो किसमें हिम्मत है कि रोक ले।"*[1] दलितों के प्रति गैर दलितों की यह हमदर्दी और दादागिरी दलितों के लिए बहुत भारी पड़ी। चार्वाक से लेकर भविष्यकाल तक तो अपने घेरे में ले लिया है। अब दलित साहित्य पर भी अपना हक जताने से बाज नहीं आता।

फरवरी 2002 अंक में 'मैं हंस नहीं पढ़ता' नामक संपादकीय में उन लेखकों की चर्चा है जिन्होंने हंस न पढ़ने की घोषण की। इस पर राजेन्द्र यादव लिखते हैं- *"आदमी साहित्य पढ़ता है उदात्त आनंद और आत्म के संस्कार के लिए, अपने भीतर के शुद्ध और शुभ्र अनुसंधान के लिए, अतीत में उपलब्ध सार्वभौमिक सत्यों के एकांत साक्षात्कार के लिए.....फिर-फिर स्त्री, दलित अल्पसंख्यकों की बकवास या भारतीय संस्कृति की ऐसी की वैसी के लिए साहित्य नहीं पढ़ा जाता।"* [2] इस तरह हंस के तीखेपन से अगर कुछ लोग आहत होते हैं तो यह हंस की बहुत बड़ी सफलता और सार्थकता है। हंस हिंदी पत्रिकाओं में खलनायक की भूमिका अदा करती है। जिस तरह फिल्मों के खलनायक को दर्शक जब तक गरियाते नहीं तब तक उसका अभिनय सफल नहीं होता, ठीक उसी तरह हंस भी है।

मार्च 2003 के संपादकीय 'असफल आदर्शों के सौ साल' में राजेन्द्र यादव स्त्री, दलित, मार्क्सवाद तीनों अपने-अपने लक्ष्य से भटक गये हैं। उन्होंने लिखा है- *"दलित और*

---

[1] हंस, सितंबर 2001, पृ. 4

[2] हंस, जनवरी 2000, पृ. 5

*स्त्री विमर्श मार्क्सवाद की भूमिका से इनकार करता है तो मार्क्सवादी इसे अलग से विवेचन करने लायक नहीं समझते। जबकि स्थिति आज यह है कि अगर वामपंथी इनके साथ नहीं जुड़ते तो स्वयं अप्रासंगिक होते जायेंगे और वे अगर वामपंथ का सहारा नहीं लेते तो भटकाव ओर गलत समझौतों के शिकार होते रहेंगे। वैसे भी आज स्त्री दलित दोनों का लक्ष्य सत्ता पाना है व्यवस्था बदलना नही।"* [1] परंतु जरूरत है उस व्यवस्था को बदलने की, जो दलित और दासी बनाती है।

हंस जुलाई 2004 के संपादकीय 'हंस के अठारह साल' में दलित साहित्य पर बात करते हुए राजेन्द्र यादव बताते हैं कि देश-विदेश में जितने भी विमर्श चल रहे हैं उनके केन्द्र में हाशियाकृत समाज है। परंतु भारतीय समाज में उसे हमेशा हाशिये पर रखने का उपक्रम किया गया और अब उनके द्वारा जो साहित्य लिखा जा रहा है, हिंदी पट्टी में उसे फैशन माना जा रहा है। उन्होंने लिखा है कि - *"इधर राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास या देश-विदेश का कोई भी बौद्धिक अनुशसन हो, आज सबका केन्द्र हाशियों पर फेंक दिये गये वे ही लोग हैं जिन्हें साहित्य में बोलने नहीं दिया गया। इधर बड़े से बड़े दार्शनिक ने जिस वर्चस्व विखंडन (डि-कन्स्ट्रक्शन ऑफ हेजेमनी) को अपनी चिंता का केन्द्र बनाया है, उसके पीछे भी यहीं दलित स्त्री जैसे हाशियाकृत लोगों के उभार है।....यह सवाल हमारे प्रबुद्ध हिंदी विद्वानों की चिंता का विषय ही नहीं है।"*[2]

अगस्त 2004 का अंक दलित विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। इस अंक के संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने दलित आंदोलन की सार्थकता के बारे में कहा है- *'अपने भीतर के जातिवाद, ब्राह्मणवाद और मर्दवाद का विश्लेषण और उन्मूलन अगर दलित आंदोलन नहीं करता, तो मुझे इसकी सार्थकता में संदेह होने लगता है।'* अतिथि संपादक श्यौराज सिंह 'बेचैन' का कहना सर्वथा उचित है- *अस्पृश्यता पहले शरीर से होती थी अब विचारों, हितों और हकों से होती है जो शरीर पर कम, मन, मस्तिष्क पर अधिक आघात पहुँचती है। बौद्धिक क्षेत्रों से दलित का बहिष्कार इसके ज्वलंत उदाहरण है।"*[3] आज के दलित साहित्य की स्थिति को देखते हुए संपादन सहयोगी अजय नावरिया ने ठीक कहा है

---

[1] हंस, मार्च 2003, पृ. 10

[2] हंस, जुलाई 2004, पृ. 8

[3] हंस, अगस्त 2004, पृ. ..

कि 'दलित साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय चिंताओं और समाजशास्त्रीय पड़तालों का साहित्य है।" यहाँ पर हम तीनों संपादकों द्वारा दलित साहित्य पर कही गयी बातों में पूरे दलित साहित्य के विकास को देखा जा सकता है। दलित साहित्य एक और सामंती विचारधारा को तोड़ती हे, तो दूसरी ओर उसी सामंती विचारधारा द्वारा उसका विरोध करती है। फिर भी वह अन्तर्राष्ट्रीय चिंताओं को विस्तृत फलक पर सुलझाने का प्रयत्न करती है।

मई 2005 के हंस में संपादकीय में विकल्प और विमर्श नाम से एक साक्षात्कार छपा है जिसमें अजेय कुमार के प्रश्नों के उत्तर राजेन्द्र यादव ने दिये हैं। इसमें दलित, स्त्री, चेतना और वामपंथ पर चर्चा की गयी है। दलितों के बारे में निचोड़ यह है कि दलित लेखकों के पास शायद यह शिक्षा, मंझी हुई भाषा, शैली और बारीक बयानी न हो, पर अनुभव और परिस्थितियों की तीव्रता ने उन्हें दर्द दिया और उन्होंने उस दर्द का शब्द दिये और आवाज दी। हंस ने उस आवाज को बुलंद बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

नवंबर 2005 के हंस के संपादकीय 'रखैल और जार का दलित- पाठ' के अंतर्गत धर्मवीर की पुस्तक 'प्रेमचंद: सामंत का मुंशी' का जिक्र है। डा. धर्मवीर अवैध संबंधों को जार कर्म कहते हैं। राजेन्द्र यादव के शब्दों में - *"इस जार नाम के डर से धर्मवीर दलितों के लिए जो साहित्य प्रस्तावित कर रहे हैं, उसमें न प्रेम होगा न सैक्स अगर हुआ भी तो सिर्फ वैध पति-पत्नी के बीच ही होगा।"* [1] यहाँ कहा जा सकता है कि ऐसी सामंतवादी विचारधारा से हिंदी दलित साहित्य गर्त में जा रहा है। डा. धर्मवीर जैसे लोगों के कारण हिंदी दलित साहित्य के दो फांक हो गये हैं। दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श।

मार्च 2006 के हंस के संपादकीय 'साहित्य कहां है' में गैर दलितों द्वारा दलित साहित्य को नकरा गया है। कलारसिक दलितों के आक्रोश और प्रतिरोध को साहित्य मानने को तैयार नहीं है। जबकि दलित स्त्री साहित्य ने सामाजिक समानता लाने की कोशिश की जा रही है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में- *"आज बीसियों साल से सांप्रदायिक दंगों के अलावा हमारे यहां कोई भी आंदोलन या संघर्ष अनुपस्थित है। अगर कुछ है तो सत्त की छीन-झपट के लिए किये जाने वाले चुनावी रोड शो या अपराध-बलात्कार की पुलिस रिपोर्टें....ऐसे में*

---

[1] हंस, नवंबर 2005, पृ. 4

*सामाजिक आंदोलन और चेतना का मंचन सिर्फ कुछ दलितों एवं गिनी चुनी महिलाओं के हाथों में है।"* [1]

जून 2007 के हंस में 'हाथी पर शेर की सवारी' नामक संपादकीय में दलित साहित्य के साथ-साथ दलित राजनीति को भी रेखांकित किया गया है। राजेन्द्र यादव ने लिखा हे - *"क्या संयोग है कि 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम को याद करते हुए लालकिले में जिस दस तारीख को भव्य आयोजन किया जा रहा था ठीक उसी समय यानि 11 मई को लखनऊ के सिंहासन परमायावती की दावेदारी भी घोषित हुई थी और टेलीविजन चैनलों को झख मारकर इसे दिखाना पड़ रहा था। शायद दलितों, वंचितों के लिए यह आजादी के लिए डेढ़ सौ साल बाद पहली लड़ाई थी।"*[2] इस तरह व्यक्तिवाद के अगले विकास के रूप में अस्मितावाद को मानते हुए राजेन्द्र यादव ने मायावती को दलित अस्मिता का प्रतीक माना है। उन्होंने फरवरी 2008 के संपादकीय 'कामरेड मोहन के बहाने व्यक्तिवाद पर सोच' में लिखा है- *"गांधी व्यक्तिवादी थी - मगर उन्होंने सारी दीवारे तोड़कर सब को शामिल करने की दिशा स्वीकार की वे अस्मितावादी व्यक्ति थे। अम्बेडकर को भी अस्मितावादी इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि वे दलितों के प्रतीक थे। मैं तो मायावती को भी दलित अस्मिता का प्रतीक मानता हूँ।"*[3]

दिसंबर 2008 के हंस के संपादकीय 'चार-खानों में टिप्पणियां' में अश्वेत बराक हुसैन ओबामा का अमेरिकी राष्ट्रपति होना भारतीय दलित समाज के लिए गर्व का विषय माना जा रहा है। राजेन्द्र यादव के अनुसार- *"सबसे अधिक घंटे-घड़ियाल बजाए हैं दलित मायावती ने क्योंकि अमेरिकी समाज में अश्वेत वहीं है, जो यहां के दलित हैं इसलिए लगता है कि हर धर्म ओर दलित वर्ग विशेष रूप से महसूस कर हा है.....जस्टिस कृष्ण अरूयर तो द हिंदू में मानते हैं कि ओबामा का आना सारी दुनिया के दलितों वंचितों के लिए एक नैतिक उत्थान का संदेश लेकर आया है।"*[4] यहां पर कहा जा सकता है कि मायावती तो गाहे-बगाहे दलितों की खबर ले भी लेती हैं, परंतु अमेरिकी राष्ट्रपति बराक

---

[1] हंस, मार्च 2006 पृ. 8

[2] हंस, जून 2007, पृ. 96

[3] हंस, फरवरी 2008 पृ.5

[4] हंस, फरवरी 2008 पृ.5

ओबामा भारतीय दलितों के लिए क्या करेंगे, यह कह पाना मुश्किल है। यहां हम बराक ओबामा से प्रेरणा तो ले सकते हैं, परंतु उनसे कुछ पाने की आशा नहीं कर सकते।

संक्षेप में हंस 2001 से 2008 तक के संपादकीय के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने दलित साहित्य में मुख्यधारा को मजबूती से स्थापित करने का प्रयास किया है।

'हंस' पत्रिका अपने कॉलम 'रेतघड़ी' के माध्यम से साहित्य में हो रहे गतिविधियों, हलचलों की रिपोर्ट दर्ज करती हैं यहां हिन्दी दलित साहित्य में हो रहे बदलावों को हंस के 'रेततघड़ी' कालम के माध्यम से रेखांकित करने का प्रयास किया जा रहा है।

हंस जनवरी 2001 के रेतघड़ी कालम में रजनी गुप्त ने 'हाशियें को केन्द्र में लाने की जद्दोजहद' में कथाक्रम - 2000 में दलितों की चिंताओं सरोकारों शोषणों पर होने वाले लेखकीय अभिव्यक्ति को दर्ज किया गया है। इस संगोष्ठी में कथाकार मैत्रेयी पुष्पा को आनंद सागर स्मृति कथाक्रम सम्मान - 2000 से नवाजा गया। इस संगोष्ठी में दलित-वमर्श विषय पर आधारित आयोजन में दलित-मुक्ति के विभिन्न समाजशास्त्रीय पहलुओं की विस्तृत पड़ताल हुई स्वानुभूति बनाम सहानुभूति से शुरू हुई बहस समानुभुति को समेटती हुई स्त्री-चेतना, अल्पसंख्यकों एवं आदिवासियों की पीड़ा को रचनात्मक ईमानदारी और प्राथमिकता के साथ व्यक्त करने की जरूरत के रूप में विस्तारित हुई। इस संगोष्ठी के समापन सत्र में राजेन्द्रयादव ने कहा कि-

*''यहां में समापन वक्तव्य की नहीं प्रस्थान वक्तव्य की शुरूआत होनी चाहिए। यह इतिहासवान और इतिहास विहीन लोगों के बीच संवादविहीन लोगों का वक्तव्य है। दलित-वमर्श और स्त्री-विमर्श मूल चेतना में एक ही है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था में स्त्रियों के पास कोई अधिकार नहीं है।..... लेकिन अब स्त्री और दलित अपना फैसला खुद लेने की स्थिति में आ गए हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में संस्कृति पर हमला बाज़ार से हो रहा है एवं संस्कृति को न बचा पाने की मजबूरी में हम स्त्रियों और दलितों का साथ चाहते हैं।''*[1]
इस संगोण्ढी में अभी के चर्चित दलित लेखक अजय नावरिया 'दिव्यभाव' को कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत कियागया।

---

[1] हंस जनवरी 2001, पृ.54

हंस सितंबर 2001 रेतघड़ी कालम में पंजाबी दलित साहित्य पर गोष्ठी को द्वारका भारती ने रिपोर्ट ली है। इस गोष्ठी में राहुल सांस्कृत्यापन की विचारा धारा को समर्पित 'राहुल विचार मंच' होशियार पुर (पंजाब) ने दलित साहित्य के विविध मुद्दों को लेकर बहस किया गया। जिसमें यह बात उभर कर सामने आई कि दलित संघर्ष महिला-संघर्ष वर्ग-संघर्ष आदि के बीच तार जोड़ने के प्रयास पर बल देना चाहिए।

हंस जनवरी 2002 के 'रेतघड़ी' में कथाक्रम की दसवीं गोष्ठी (10-11 नवंबर, 2001) में व्यक्त नारी अस्मिता की कथा को सुनील ने व्यक्त किया है। इस गोष्ठी में दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि को आनंद सागर कथाक्रम सम्मान 2001 से नवाजा गया। इस सम्मान को लेते हुए उन्होंने कहा कि *''उन्हें सम्मानित किया गया है स्वीकार नहीं किया गया है। दलित साहित्य ने अभी कोई लड़ाई नहीं जीती है, अभी कई पड़ाव और कई रास्ते तय करने होंगे तब स्वीकृति मिलेगी। साहित्य पर खुलकर बहस के मुद्दे पर तमाम लोगों को हो रही असुविधा और घबराहट पर कड़ा प्रचार करते हुए उन्होंने कहा कि गाड़ी कैसे चल पाएगी।''*[1] ओमप्रकाश वालमीकि का यह कथन दलित साहित्य की कटू सच्चाई को व्यक्त करती है वैसे दलित रचनाकार एवं उनकी रचना को भले ही सम्मानित भले ही किया जा रहा है, परंतु उन्हें मुख्यधारा में शामिल करने में बहुत समय लगेगा। यह संगोष्ठी 'नारी अस्मिता और कथा साहित्य पर केन्द्रित है। स्त्री अस्मिता पर बात करते हुए प्रसिद्ध अलोचक निर्मला जैन ने स्त्री पहचान के लिए पुरूष सहयोग को महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार-

*''बिना पुरूष के सहयोग के स्त्री की पहचान नही बदल सकती, स्त्री को मुकम्मल होने के लिए पुरूष की मदद लेनी ही पड़ेगी। सच्चे अर्थों नारी अस्मिता तभी आकर लेगी जब पुरूष स्त्री के पक्ष में खड़ा होने की बात करे।''*[2] इस व्यापक बदलाव के लिए पुरूषों को पितृसत्तावादी सोच बदलनी होगी।

हंस जून 2002 के रेतघड़ी में 20-21 अप्रैल 2002 को नई दिल्ली के मंडी हाउस स्थित जे.एन.यू सिटी सेंटर में दलित लेखक संघ का पहला दो दिवसीय अधिवेशन में

---

[1] हंस, जनवरी 2002, पृ. 81.

[2] हंस, जनवरी 2002, पृ. 82

'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन के समक्ष चुनौतियां' विषय पर 'शशिकांत' का आख्यान सराहनीय है। पांच सत्तों में आयोजित इस सम्मेलन में दलित आंदोलन में साहित्य की भूमिका दलित साहित्य में नारी चेतना तथा दलित साहित्य के समक्ष चुनौतियां एवं संभावनाएं विषय पर विचार-विमर्श हुआ। गुजराती के वरिष्ठ लेखक मेकवान ने दलित लेखकों की प्रति बद्धता पर विचार व्यक्त करते हुए कहा कि- ''दलित लेखक एक प्रतिवद्धता के साथ लिखते हैं। यदि उसमें जीवन नहीं जुड़ा है तो वह साहित्य नहीं है, दलित लेखन में प्रतिबद्धता ईमानदारी और निष्ठा जरूरी है। हमें सामाजिक असमानता रानीतिक असमानता आर्थिक असमानता आदि पर भी लिखना चाहिए।''[1]

इस तरह वरिष्ठ साहित्यकार राजेन्द्र यादव ने कहा कि - यह संयोग नहीं है कि दलित और स्त्री चेतना साथ-साथ आई है। यानि स्त्री और दलित अविभाज्य सामाजिक शक्तियां हैं। आज इस पर विचार करने की जरूरत है कि अपने घर की स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार कैसा है? स्त्री ऊपर से जाति के रूप में भले नही बंटी हुई है लेकिन उसकी यातना और संघर्ष वैसा ही है जैसे दलितों का है। जो इतिहास है। आप इक्कीसवीं सदी में स्त्रियों एवं दलितों के इतिहास को नए सिरे से लिखने की जरूरत है। यहां पर राजेन्द्र यादव स्त्री-दलितों दोनो को मिलकर सवर्णवादी मानसिकता के खिलाफ लड़ाई जारी रखने को कहते हैं। उनका कहना है कि दलित स्त्री अपना इतिहास गैर दलितों के इतिहास में न ढूढें वल्कि अपना समाज इतिहास स्वयं बनाये तब वह समाज समतामूलक मानवता पूर्वक समाज होगा। इसी तरह रमेश उपाध्याय कहते हैं - *''हमे दलित कहानियों के द्वारा दलित समाज के मूल्य रीति-रिवाज परंपरा, शादी-विवाह की रीतियों आदि को स्थापित करना चाहिए'*[2]

हंस जुलाई 2003 के रेतघड़ी में श्यौराज सिंह बेचैन सूरीनाम में सातवां विश्व हिन्दी सम्मेलन पर रपट लिखते हैं। उन्होंने बाताया कि 1873 ई. में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से मजदूरी करने .....द्वारा सूरीनाम लाये गये थे। उनमें से अधिकांशत: दलित थे। महेन्द्र गोरवीन के अनुसार - ''26 फरवरी 1873 को कल्कत्ता जलपोट द्वारा जिन 410 दलितों को

---

[1] हंस, जून 2002, पृ. 84

[2] हंस, जून 2002, पृ. 84

काम देने के बहानो भारत से 17 हजार कि.मी. दूर सात समुंद्र पार लाया था। वे चार जून की रात सुरीनाम तट पर पहुंचे थे 5 जून की सुबह उनमें से एक मृत 399 जिंदा और 10 लापता थे .....डच भाषा में उनका विवरण रखा गया, किंतु उन्हें नाम के बाजय नंबर से पहचाना गया, वे 399 चूंकि सभी भारत की महान संस्कृति के नरक्षर लोग थे। न वे डच सीख सकते थे न अंग्रेजी जानते थे ..... भाषा के अभाव में वे अपना इतिहास निर्मित भी नहीं कर सकते थे।''[1]

हंस जून 2004 के 'रेतघड़ी में दलित लेखक सुदेश तनवर ने दलित लेखक संघ (दलेस) का दिल्ली के जेएनयू सिटी सेंटर में संपन्न हुए दूसरे अधिवेशन का व्यौरा दिया है। इसमें मुख्य विषय था- सांस्कृतिक फासीवाद और दलित। इसके अलावा दलित साहित्य में विचारधारात्मक संघर्ष, दलित चिंतन में स्त्री और भूमंडलीकरण का दलित समाज पर प्रभाव जैसे अन्य विषय भी बहस के केन्द्र में रहे। प्रसिद्ध वौद्ध चिंतक तुलसी राम ने सांस्कृतिक फासीवाद की विशद व्याख्या करते हुए बताया कि - *'इस सांस्कृतिक फासीवाद की जड़े बहुत ही गहरी है। इतिहास हमें बताता है कि संपूर्ण बौद्ध दर्शन को नेस्तनाबुद करने के लिए बौद्ध साहित्य की अमूल्य और विशाल धरोहर को किस तरह से इसी धरती पर वैदिकों ने नष्ट किया।*[2] दलित साहित्य में विचाराधारात्मक संघर्ष के वारे में दलित लेखिका विमल थोराट ने कहा कि अम्बेडकर चेतना के बिहना दलित साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। और दलित चिंतन में स्त्री पर बात करते हुए रमणिका गुप्ता ने स्त्री चिंतन के चार बिंदु बताये हैं- 'दलित समाज में स्त्री बाबा साहब के चिंतन में स्त्री पुरूष दलित लेखन में स्त्री और स्त्री दलित लेखन में स्त्री।' यहां पूरे दलित साहित्य का वैचारिक आधार देखा जा सकता है। और आने वाला समय दलित, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों का होगा। जैसा कि राजेन्द्र यादव ने लिखा कि यह सदी शूद्रों की सदी है।

हंस जूलाई 2006 के 'रेतघड़ी' कालम में अजित राय का 'भविष्य का दलित साहित्य' देहरादून में दलित साहित्य एवं संस्कृति अकादमी की 10 जून 2006 की विचारोत्तेजक गोष्ठी पर आधारित है। इस गोष्ठी में राजेन्द्र यादव को भारत रत्न डॉ॰

---

[1] हंस, जुलाई 2003, पृ. 83

[2] हंस, जून 2004, पृ. 83

अम्बेडकर साहित्य सम्मान प्रदान किया गया। इसमें लेखकों द्वारा एक दूसरे पर किये गये आरोप प्रत्यारोप दलित साहित्य को गर्त में लिये जा रहा है। युवा लेखक अजय नावरिय ने ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानियों पर जातिवादी होने का आरोप लगाया रूपानारापण सोनकर का दु:ख था कि 'कुछ लेखकों के दलित लेखन से नई पीड़ी के दलितों में हीन भावना पैदा हो रही है।' रमेश निर्मल की दलील थी कि 'सच्चे अर्थों में वही दलित लेखक हो सकता जो अम्बेडकर तक न रूके मार्क्सवाद तक जाए वरना वह आधा अधूरा रह जायेगा।

संगोष्ठियों में इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप हिंदी दलित साहित्य के विकास की निशानी नहीं है। हांलाकि दलित साहित्य के आत्मालोचना की जरूरत है। परंतु लेखकों की आपसी लड़ाई हिंदी दलित साहित्य के विकास में खलल उत्पन्न करती है। दलित साहित्य का पूरे दलित सामाज मुक्ति का सपना अधुरा रह जाएगा। ऐसे में, दलित लेखकों को जरूरी गैर-जरूरी लड़ाईयों में फर्क करना होगा, बड़े उद्देश्यों के लिए निजी मतभेद खत्म करने होंगे।

हंस फरवरी 2008 के रेतघड़ी में रूप चन्द गोतम ने लखनऊ विश्व विद्यालय में हुए संगोष्ठी से जुड़े सवालों को रेखांकित किया है। इस संगोष्ठी का विषय था- विश्व विद्यालय में दलित प्रतिनिधित्व चुनौतियां और समाधान इस संगोष्ठी के आरम्भ में प्रो॰ आ॰ पी॰ सिंह ने कहा कि "विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मापदंडों के होते हुए हम महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय में दलित प्राध्यापक रीडर एवं प्रोफेसरों की नियुक्ति में सफल नहीं हो पाए है। आज का युग प्रतियोगिता का युग है, संभावनाओं का युग है, आप प्रतिभागी वने अपनी बौद्धिक शक्ति बढ़ाएं।"[1] इसी तरह दलित युवा लेखक अजय नावरिया ने भी दलितों का आहवान करते हुए कहा है कि - *"आज हम जाति के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे हैं। दलित प्रतिनिधित्व के लिए लड़ाई लड़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में यह एक सामुहिक लड़ाई भी बन सकती है जब सभी दलित जातियां एक पहचान के रूप में एक जुट हो सके।"*[1] अत:एवं दलित लेखकों को आपसी मतभेद भुलकर दलित साहित्य में एकजुट होकर योगदान करना होगा, तभी जाकर दलित सामाज की नींव मजबूत होगी,

---

[1] हंस, फरवरी 2008, पृ. 79

दलितों ने जिस जाति को खत्म करने की मुहिम छेड़ी है, उसी जाति के संजाल में फंसकर अपने उद्देश्य से न भटकें।

'हंस' 2001 से 2008 तक लगभग सभी अंकों में हिन्दी दलित साहित्य के विकास एवं बदलते स्वरूपों को दर्शाया गया है। हंस ने समय-सयम पर बहसों, संगोष्ठियों लेखों, रचनाओं को छाप कर हिन्दी दलित साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, और आज भी दे रहा है। दलित साहित्यकारों के वीच होने वाले फाकों को निरंतर दूर करने का प्रयास किया है। संपादक राजेन्द्र यादव हमेशा से दलितों को सामंत्री वर्चस्व के खिलाफ एकजूट होने पर बल देते हैं। उन्होंने 'हंस' में दलित रचनाओं को छापने की भरपूर कोशिश की है। ऐसी दलित रचनाओं में सामंत्री व्यवस्था का विरोध भी है और स्वयं दलित लेखकों में आए मतभेदों का विरोध भी है। हंस हमेशा से वर्चख-वादी संस्कृति के खिलाफ श्रमणवादी संस्कृति को वकालत करती रही है। अनेक हिंदी पत्रिकाओं से अलग हटकर साहित्य में दलितों शोषितों वंचितों अल्पसंख्यकों एवं स्त्रियों को केन्द्र में रखकर उन्हीं हार्पट से साहित्य को रचने एवं मूल्यांकन करने का प्रयास हंस के माध्यम से किया जा रहा है। संपादक राजेन्द्र यादव इसे समय और सामाज से जूझते हुए अपनी समझ के जालें को साफ करने की प्रक्रिया कहते हैं।

'मेरी -तेरी उसकी बात' के बाद 'हंस' में आए बहसों को उसके कालम 'बीच बहस में' पर चर्चा करेंगे। हंस में बहस उन्हीं मुद्दों पर होती है। जो लेखों, संगोष्ठियों रचनाओं, वक्तव्यों के माध्यम से हंस में पहले से मौजूद हैं। अप्रैल 2001 के हंस में 'बीच बहस में' दलित लेखक श्यौराज सिंह 'बेचैन' की प्रतिक्रिया 'हंस' की प्रक्रिया या मंदिर की' छपी, जिसमें 'बेचैन' जी ने राजेन्द्र यादव के इस कथन कि *"मैं दलितों को हंस में रियायत के तौर पर भी जगह दूंगा और उनके डेमोक्रेटिक हकों के रूप में भी"*[1] पर श्यौराज सिंह ने दलितों के लिए 'हंस' में बाकायदा 24 पृष्ठों की मांग है। और 'भारत भारद्वाज' को दलित विरोधी मानसिकता का प्रतिनिधि मानते हुए उन्होंने लिखा है कि- *"भारत भारद्वाज ने जनवरी अंक में हिन्दी साहित्य: परिक्रमा 2000 को पुरोहिती परिक्रमा बनाने का प्रयत्न किया है।....उन्होंने ऐसी संकीर्ण परिक्रमा की है कि वस्तुपरक दृष्टि तो*

---

[1] हंस, अप्रैल 2001, पृ. 52

*सिरे से गायब हो गयी है। प्रतिनिधि कृतियों को हाशिये पर नहीं लिया है। क्या श्री भारद्वाज जी यह नहीं जानते कि डा. धर्मवीर जी की 'कबीर नयी सदी में' शीर्षक से तीन पुस्तकें (डा. हजारी प्रसाद द्विवेजी का प्रक्षिप्त चिंतन, कबीर और रामनंद कि किवंदतियाँ और कबीर बाज भी कपोत भी पपीहा भी) इसी वर्ष आई है, जिन्होंने असली कबीर को खोजकर साहित्य विमर्श की दिशा ही बदल दी है।"*[1] यहाँ माना जा सकता है कि भारत भारद्वाज ने परिक्रमा में दलित साहित्य की पुस्तकों की नोटिस नहीं ली। परंतु हंस में आरक्षित सीट की मांग थोड़ा सा अटपटा है। क्योंकि अनमने ढंग से कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता और न कराया जा सकता है।

हंस अक्टूबर 2001 के अंक में अनिल चमड़िया ने 'प्रेम कहानियों का विस्फोट और सामाजिक सत्ता' लेख में जातिवाद, धर्म के कारण हुए प्रेमी युगल की नृशंस हत्याओं पर नोटिस ली है कि उन्होंने लिखा है- *"आखिर क्या कारण है कि प्रेमी-जोड़े पर हमले की शुरूआत किसी लड़की के परिवार की ओर से होती है? क्योंकि वह उस पर थोपे गये अभिव्यक्ति के दायरे को तोड़ने का सबसे ज्यादा साहस करती है? इसी तरह से यह क्रम आगे बढ़ता है। जिस-जिस वर्ग या वर्ण की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बंदिशें लगाई गई हैं, उसके साहस को गांव और पंचायत में बैठा सत्तासीन कुचलने की कोशिश करता है। इसलिए महिला के बाद दलित शिकार होता है।"*[2] इस तरह प्रेम-विवाह वर्णश्रम के दो रूढ़ियों को नकारता है। पहला पुरूषसत्तावादी वर्चस्व और दूसरा जातिव्यवस्था।

इसी अंक में श्रीरंग कुमार झा का लेख' शूद्र पत्रिका की राजनीति' में 2001 के जुलाई-अगस्त दोनों अंकों में हंस को 'शूद्र पत्रिका', फिर ओ.बी.सी. पत्रिका कहना नई संभावनाओं को उजागरण करता है। वह संभावनाएं यह है कि हंस ने पिछड़ों और दलित को अपनी व्यथा कथा कहने में भरपूर सहयोग किया है। श्रीरंग कुमार झा के अनुसार-*" यह खोद का विषय है कि भारत में शूद्रों के मूल्यों, अवधारणओं, गुणों, विशेषताओं आदि को कोई मान्यता नहीं मिली है, शायद यही कारण है कि वे हीन-भावना से ग्रस्त रहे हैं और लंबे समय तक अपनी जाति छिपाने के प्रयास में संलग्न रहे हैं। भारत में श्रम का यथोचित*

---

[1] हंस, अप्रैल 2001, पृ. 52

[2] हंस, अक्टूबर 2001, पृ. 32

*सम्मान नहीं होने से वे भी यह मानने लगे हैं कि शारीरिक श्रम लघुता का प्रतीक है।"* ऐसे में 'हंस' के लिए शूद्र या ओबीसी का लेबल कमजोरी व हीनता का प्रतीक नहीं बल्कि नवीन जागरूकता का प्रतीक है।"[1]

हंस दिसंबर 2002 के 'बीच बहस में' दिव्यभाव का 'तिरस्कृत के प्रसंग' हिन्दी दलित साहित्य के अंतर्गत होने वाले मतभेदों को दर्शाता है। इसमें दिव्यभाव ने दलित लेखक सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' के समीक्षाकार मोहनदास नैमिशराप को आड़े हाथों लिया हैं। हंस सितंबर 2002 के 'परख' कालम में मोहनदास नैमिशराय की तिरस्कृत पर समीक्षा छपी जिसमें उन्होंने सूरजपाल चौहान पर कई आरोप लगाये हैं। यहाँ दिव्यभाव उन्हें आरोपों का निराकरण करते हैं।

समीक्षाकार घर में होने वाले झगड़े, भंगी-चमार प्रकरण आदि विषयों पर लिखते हैं कि इससे कोई सामाजिक क्रांति पैदा नहीं होती है। जबकि सूरजपाल चौहान ने इस तमाम विमर्शों को उठाने का बहुत ही तार्किक करण दिया है- *"मेरी नीयत किसी दलित जाति या वर्ग विशेष पर कटाक्ष करना नहीं बल्कि हिन्दुत्व की उस धारा पर कुठारा घात करना है जिसमें हमारे ही दलित समाज के कुछ लोग बह रहे हैं।"* [2] इस पर दिव्यभाव ने लिखा है कि *"आत्मकथाकार को सर्वथा दोषमुक्त नहीं किया जा सकता। उनका एक ही दोष है और वह है काल का अतिक्रमण कर जाना, यह अक्षय दोष है। जो काम साहित्य में परसों होना था उन्होंने आज कर दिया, समय से आगे सृजन और कार्यों का मूल्यांकन वर्तमान में सभी नहीं कर सकते। तिरस्कृत जीवन से उगते कांटो (निरर्थक और अनुपयोगी) की कथा नहीं है, वह तिस्कृत जीवन से उगते फूलों (सार्थक और उपयोगी) की कथा है। हमारे जीवन के फूलों ही विरोधी विचारधारा के लिए कांटे (दुख) बन जाते हैं।"* यहाँ कहा जा सकता है कि दलित लेखकों के आपसी मतभेद ने हिन्दी दलित साहित्य की धार को कुंद कर रहा है।

हंस जनवरी 2003 के 'बीच बहस में' में प्रफूल्ल कोलख्यान का 'दलित चेतना से किन्हें परेशानी है' दलित चेतना पर बहस को एक व्यापक आयाम प्रदान करता

---

[1] हंस, दिसंबर 2002, पृ. 61

[2] हंस, दिसंबर 2002, पृ. 61

है। इसमें उनका मानना है कि दलित समस्या को समझने में आज भी हिंदी समाज पूरे मन से तैयार नहीं हो पा रहा है। यह देखकर दलित समाज उन्हें अपना विश्वसनीय मानने से इनकार कर देता है जो लोग वर्ग-स्वार्थ के कारण स्वाभाविक रूप से दलित स्वार्थ के निकट है। अतएव प्रतिरोध और प्रतिशोध की यह अभिव्यक्ति यह कशमकश दलित उत्थान के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध उत्पन्न कर रहा है।

हंस मार्च 2003 के 'बीच बहस में' आनन्दस्वरूप का 'धर्म परिवर्तन क्यों' 5 अक्टूबर 2002 को तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता के 'धर्मांतरण निषेध अध्यादेश' पर बहस करता है। हिंदू धर्म में व्याप्त छुआछूत, जाति पांत, भेदभाव, वर्णव्यवस्था के दंश से छुटकारा पाने के लिए डा. अम्बेडकर द्वारा धर्मांतरण अपनाया गया। उसी धर्मांतरण को आज के दलित जब अपनाते हैं तो एक महामहिम मुख्यमंत्री द्वारा धर्मांतरण पर निषेध लगा दिया जाता है। और हिंदू धर्म की मान्यताओं में रत्ती भर परिवर्तन नहीं किया गया। आज भी कई जगहों पर गैर दलितों द्वारा दलितों के घर जलाये जा रहे हैं। उस पर सरकार ने किसी प्रकार की सख्ती नहीं बरती, परंतु जब हिंदू धर्म के मठाधीशों को खुली चेतावनी देते हुए दलित जब धर्म परिवर्तन करना चाहता है तो सरकार दलितों को धर्म परिवर्तन पर रोक क्यों लगा रही है। क्या यह सरकार द्वारा संविधान का उल्लंघन नहीं किया जा रहा है या फिर दलितों पर दबाव नहीं डाला जा रहा है क्या ऐसी सरकार सामंती रूढ़ियों से परिपूर्ण नहीं है।

इसी अंक में दलित लेखिका रजनरानी 'मीनू' के 'पूरक परिक्रमाः हिन्दी दलित साहित्य 2002 में 2002 में आयी सभी दलित रचनाओं पत्रिकाओं गोष्ठियों को शामिल कर भारत भारद्वाज द्वारा जनवरी 2003 में अधूरी परिक्रमा को पूरा किया गया है। यहाँ पर देखा जा सकता है कि दलित साहित्य मुख्यधारा में अपना स्थान सुनिश्चित करने का प्रयास कर रहा है।

हंस अक्टूबर 2003 के 'बीच बहस में' रमणिका गुप्ता ने 'भाषाएँ मरने से इंकार करती है' के जरिये दलित लेखक चन्द्रभान द्वारा भारतीय भाषाओं के नकारने की आलोचना की है। रमणिका गुप्ता भारत की स्थानीय भाषाओं को दलितों की भाषा मानती है। उन्होंने लिखा है- "*यह सही है कि सवर्ण तबका या अभिजात वर्ग दोहरी बात करता*

*है, वह अपने लिए तो अंग्रेजी लेकिन दूसरों के लिए मातृभाषा की बात करता है। हमें उसकी यह चाल समझनी होगी। अपनी ही भाषा को खत्म करके उनसे बड़े अंग्रेजीदां बनने की चाह यह आत्मघाती सोच है। दलितों की त्रासदी यह है कि उन्हें साक्षर ही नहीं होने दिया गया। अधिकांश दलित अंग्रेजी तो दूर की बात हिंदी या किसी प्रांतीय भाषा या अपनी मातृभाषा के 'करवारे' से भी परिचित नहीं है। फिर अंग्रेजी में उन्हें शिक्षा क्या शिक्षा से ही वंचित करना नहीं होगा।"* [1] इस तरह दलितों किसानो, आदिवासियों द्वारा भारतीय भाषाओं को जिंदा रखा गया। ये भाषाएँ उनकी अस्मिता से जुड़ी हुई है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में- "भाषाएँ भी मरने से इंकार करती है।"[2]

हंस मई 2004 के 'बीच बहस में' रमेश निर्मल के 'हमें गांधी नहीं चाहिए' में राजकिशोर की दलितों के लिए गांधीवादी मान्यताओं का खंडन किया गया है। रमेश निर्मल बताते हैं कि जिन अछूतों के लिए गांधी ने इतना कुछ किया था, उन अछूतों की वर्तमान संतान, दलित द्वारा गांधी के हरिजन-चितंन को अपने विरोध में पताती है। फिर भी राजकिशोर जैसे विद्वान गांधी की अम्बेडकर से तुलना करते हैं। इस पर रमेश निर्मल ने लिखा है कि- *"वर्णव्यवस्था से दिलतों, शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति नहीं सुधरती है बल्कि वास्तविकता यह है कि यह उच्चवर्णीय हिंदुओं का इन पर फेंक जाल है ताकि वे निर्बाध इनका शोषण, उत्पीडन और अपमान करते हुए अपनी सुविधा सत्ता और सम्मान बनाये रखें।"*[6] ऐसे लोगों से दलित साहित्य को बचना चाहिए।

हंस जुलाई 2005 के अंक में वृजपाल भारती 'बौद्ध धर्म बनाम दलित मुक्ति' में मानते हैं कि समतामूलक समाज की स्थापना सदैव से प्रकृति एवं समय की मांग रही है। वर्चस्वादी संस्कृति के खिलाफ दलित बहुजनों की एक अलग समानांतर सशक्त संस्कृति भी है जिसे श्रमण संस्कृति कहा गया इस संस्कृति के संवाहक बुद्ध, कबीर, रैदास, फूले अम्बेडकर आदि है। इस बहुजन संस्कृति का धर्म समता बंधुता एवं न्याय है। बौद्ध धर्म इन्हीं समतामूलक संस्कृति का परिचायक है।

---

[1] हंस, अक्टूबर 2003, पृ. 41

[2] वहीं पृ. 41

[3] हंस, मई 2004, पृ. 86

हंस अक्टूबर 2006 के 'बीच बहस में' गजेन्द्र यथार्थ के 'आरक्षण से सत्ता तक' में राजनीति को सांप्रदायिकता और आरक्षण से होने वाले लाभ को दर्शाया गया है। राजनीतिक दल अपना अल्पमत बढ़ाने के लिए न चाहते हुए भी पिछड़ों एवं दलित को आरक्षण देने के पक्ष में हैं। गजेन्द्र यथार्थ के शब्दों में- "*पिछड़े दलितों के आरक्षण के मामले में संसदीय राजनैतिक दलों का गणित साफ है कि दलितों और पिछड़ों को मिलाकर देश की पहचत्तर प्रतिशत जनता पर कब्जा संभव है वह संसदीय संकट दूर करने का टिकाउ जुगाड़ है। यहीं वजह है कि कांग्रेस द्वारा घोषित इस सत्ता समीकरण का विरोध कोई भी खुलकर नहीं कर सकता। यहां विरोध का अर्थ संसदीय दल यहीं लगा रहे हैं, पचहत्तर प्रतिशत जनता से बेवजह बैर मोल लेना।*" [1] इस तरह कहा जा सकता है कि आरक्षण का औचित्य चुनावी हथकंडे को मजबूत करना है जनता को लाभ पहुँचाना नहीं।

हंस दिसंबर 2006 के 'बीच बहस में' अपूर्वानंद का 'एक मामूली दलित 6संहार' 'झज्जर' गोहाना और आरा में होने वाले दलित संहार की चर्चा करते हुए पूरे भारतीय समाज पर व्यंग्य करता है। प्रधानमंत्री अलग-अलग मंच पर कहते सुने गये कि 'भारत का सबसे बड़ा शत्रु आतंकवाद है।" इसमें उन्होंने इस्लामी और 'माओवादी' आतंकवाद की चर्चा की है, पर जिस आतंकवाद की चर्चा नहीं की वह इतना सर्वव्यापी है कि सारी मानवता को ही निगल जा रहा है। वह आतंकवाद दलित विरोधी सवर्ण आतंकवाद। अपूर्वानंद के शब्दों में- "*आतंकवाद विशेषज्ञ पत्रकारों द्वारा बताये गये आतंकवादियों की जन्मकुंडली के व्यौरे पढ़ते हैं। आपको एक-एक आतंकवादी की कहानी बताई जाती है कि आप लेखक की जासूसी क्षमता पर यकीन किए बिना नहीं रह सकते है, यह सवाल लेकिन हमने कभी नहीं पूछा कि इज्जर, गोहान, आरा में दलित विरोधी आतंकवाद की योजना बनाने और उन्हें लागू करने वालों का इतिहास क्या है उनका मनोविज्ञान क्या है?*"[2] इस तरह कह सकते हैं इस्लामी एवं माओवादी 'आतंकवाद को खत्म करने के लिए सेना हथियार सभी हैं, परंतु दलित विरोधी सवर्ण आतंकवादी को समाप्त करने में सरकार निहत्थी नज़र आती है।

---

[1] हंस, अक्टूबर 2006, पृ. 73

[2] हंस, दिसंबर 2006, पृ. 74

हंस फरवरी 2007 के 'बीच बहस में' बजरंग बिहारी तिवारी का एन.सी.ई. आर.टी. पाठ्यक्रम विवाद पढ़कर यह सिद्ध हो गया कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के घोषित पैरोंकारों के अलावा भी इस मानसिकता के लोग कितने हैं। ये हर जगह मिलेंगे यही कारण है कि कोई भी रचनात्मक पहल ऐसी मानसिकताओं के लोगों के कारण दलित निर्बल वर्ग की बस्तियों के बाहरी द्वार तक सिमट कर रह जाती है। इसमें राष्ट्रवादी पैरोकारों का मानना है कि- कच्ची उम्र के बच्चों को जातिप्रथा के बारे में कुछ नहीं बताना चाहिए कि प्राइमरी स्कूल में पढ़ने वाले दलित छात्रों क प्रति अध्यापकों का व्यवहार किस कदर अमानुसिक रहता है कि बच्चों को बताने की जरूरत ही नहीं पड़ती पहले ही स्कूल में उसे जातिवादी पाठ रटा दिया जाता है।

सवर्णों द्वारा किये गये इस मतभेद को बजरंग बिहारी के शब्दों में देखा जा सकता है। उनके अनुसार- "*एनसीईआरटी पाठ्यक्रम विवाद की यह लड़ाई लोकतंत्र और ब्राह्मणवाद के बीच में हैं, प्रश्न आस्थावाद, संस्कारवाद के बीच में हैं। सर्जनात्मकता और सनातनता के बीच में हैं। समता और पितृसत्ता के बीच में है, नवाचार और जड़ता के बीच में हैं.....*"[1] इस तरह शिक्षा शुरू से लेकर आखिर तक सवर्णवादी मानसिकता से भरा हुआ है। व्यक्ति पढ़ा-लिखा होकर भी जातिव्यवस्था ऊँच नीच, भेदभाव आदि से बंधन में जकड़ा रहता है। ताउम्र वह इसे छोड़ नहीं पाता।

संक्षेप में 'बीच बहस में' कालम के जरिए हंस ने दलित साहित्य के उन प्रश्नों को सुलझाने की कोशिश की जो प्रश्न दलितों में आज भी मौजूद है। उदाहरणस्वरूप, जातिवादी के नाम पर प्रेमी जोड़े की हत्या, दलित साहित्य का मुख्यधारा में प्रवेश वर्जित, शिक्षा आदि में वर्चस्वशाली मानसिकता बदलने का प्रयास 'हंस' पत्रिका ने किया है।

---

[1] हंस, फरवरी 2007, पृ. 81

# उपसंहार

## उपसंहार

'हंस' पत्रिका अगस्त 1986 से लगातार बहस के केन्द्र में है। इसमें साहित्यिक समस्यओं के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया गया है। संपादक राजेन्द्र यादव ने यथास्थितिवादी दृष्टि से सतत संघर्षरत 'हंस' को शुद्ध साहित्यिक पत्रिका बनाने के बजाय इसकी प्रगतिशीलता पर बल दिया है। हंस का पूरा नाम है- जन चेतना का प्रगतिशील कथा मासिक 'हंस'। 'हंस' में छपने वाले लेख, रचनाओं, समीक्षाओं में समाज की विसंगतियों, अंतर्विरोधों एवं समाज को व्यापक रूप से प्रभावित करने की क्षमता को जनचेतना पर आधारित प्रगतिशील दृष्टि से देखा गया है। परंपरा प्रेमियों से लगातार वैचारिक संघर्ष के फलस्वरूप 'हंस' ने साहित्य के नये विचार एवं नयी सोच को विकसित करने का प्रयास किया है। इस सिलसिले में 'हंस' ने दलित, स्त्री, अल्पसंख्यक को केन्द्र में लाकर समाज को एक नये सच से परिचित कराया। इस शोध कार्य में दलित अस्मिता के उभार एवं दलित साहित्य के विकास को देखने एवं परखने की कोशिश हुई है।

दलित साहित्य का व्यापक प्रचार और प्रसार मराठी में पहले से मौजूद रहा है। अम्बेडकर वैचारिकी के मूल में मराठी दलित साहित्य फला-फूला। हिंदी में भी अम्बेडकर के विचारों के आधार पर दलित साहित्य पहले से मौजूद रहा है। परंतु हिंदी के किसी भी साहित्यकार ने इसे निष्पक्ष तरीके से उभारने का प्रयत्न नहीं किया। गैर दलित साहित्यकारों ने ज्यादा से ज्यादा दलितों के उत्पीड़न शोषण स्थितियों की जानकारी दी है। जब की स्थिति यह थी की दलित समाज के लोगों की आशाओं, अकांक्षाओं और दुख-दर्द की अभिव्यक्ति के साथ-साथ समाजिक, आर्थिक विषमताओं से मुक्ति और शोषण, उत्पीड़न के विरूद्ध विद्रोह की चेतना को भी जगाना था। हालॉकि हिन्दी पट्टी के दलित लेखकों द्वारा यह कार्य किया जा रहा था पर वह निम्न जातियों तक ही सीमित रहा। कुछ दलित लेखकों ने अपनी रचनाएँ पत्रिकाओं, प्रकाशनों में भी भेजी परंतु उन्हें यह कहकर लौटा दिया गया कि उनका साहित्य अश्लील है, अथवा साहित्यिक सौन्दर्य से वंचित है आदि।

परंतु नब्बे के दशक में हिंदी साहित्य की महत्वपूर्ण पत्रिका 'हंस' ने दलित सहित्य को केन्द्र में लाने की पहल की। हाशियाकृत दलित समाज के सच को जब मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया तो 'हंस' को दोहरी प्रतिक्रिया से गुजरना पड़ा। जहां एक ओर मुख्यधारा के लोगों ने हंस पत्रिका में लगातार दलित साहित्य के कारण गिरते स्तर की बात की वहीं दूसरी तरफ दलित साहित्यकारों ने संपादक राजेन्द्र यादव को दलित साहित्य के नाम पर ढ़ोंग करने का आरोप भी लगाया फिर भी 'हंस' ने इस क्षेत्र में आगे बढ़ना शुरू किया, दलितों को सामंती वर्चस्व के खिलाफ एकजुट होने पर बल दिया और उनकी रचनाओं के माध्यम से उभरे सवालों एवं समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया।

'हंस' अपने 'इन्डेक्स' में संपादकीय से लेकर परख तक लगभग हर कालम में दलित साहित्य को छापता रहा है। 'हंस' जुलाई 2001 के संपादकीय कालम में संपादक राजेन्द्र यादव ने 'हंस' को हिन्दी साहित्य के गेरूआ पत्रिकाओं में 'शूद्र पत्रिका' तत्पश्चात ओबीसी पत्रिका कहा। राजेन्द्र यादव का यह कथन दलितों में नई संभावनाओं को जागृत करता है। भारत में शूद्रों के मूल्यों, अवधारणाओं, गुणों, विशेषताओं आदि को कभी मान्यता नहीं मिली और आज भी हिंदी समाज पूर्वग्रहों से ग्रसित होकर दलित साहित्य को नकारता है। ऐसे में, 'हंस' पत्रिका का यह वक्तव्य दलितों को अपनी पहचान बताने की हिम्मत देता है। इसके पहले जनवरी 2001 के अंक में राजेन्द्र यादव ने इक्कीसवीं सदी को 'शूद्रों की सदी' के रूप में परिभाषित किया है। क्योंकि वे मानते हैं कि भूमंडलीकरण के दौर में मध्यवर्ग तेजी से अपनी अभिव्यक्तियों के लिए अंतर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी चुन रहा है। ऐसे में, हिन्दी को यदि बने रहना है तो उसे हाशियाकृत समाज की आशाओं आकांक्षाओं से जुड़ा रहना होगा।

'हंस' ने हमेशा से धर्म, समाज और सैक्स के प्रश्नों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। प्रस्तुत शोध कार्य में 'हंस' में दलित साहित्य पर छापी गयी रचनाओं पर बात की गयी है। इन रचनाओं में समाज, राजनीति, संस्कृति आदि में व्याप्त घोर अपमान अराजकता एवं वर्चस्व की काली तस्वीर खींचने के उपरांत इससे मुक्ति की संभवानाओं को भी तलाशा गया है। समाज के हाशिये पर रह रहे दलितों को 'हंस' ने एक नई राह दिखाई, प्रत्येक कालम में दलितों को बखूबी उभारा है। चाहे वह आत्मकथा हो, कविता हो, कहानी हो

अथवा लेख हो। दलित समाज के सकारात्मक परिवर्तन में स्त्रियों, पिछड़ों अल्पसंख्यकों को भी शामिल किया है और उनके राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं को नयी दृष्टि दी है। 'हंस' पत्रिका पर काम करते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि आने वाला समय और साहित्यिक पायदान इन्हीं दलितों का है। इन्हीं की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति द्वारा भविष्य के दलित साहित्य को सार्थकता मिलेगी। दलित अपनी बात अपनी भाषा में स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी आपसी मतभेद के कह सकें, यही कोशिश 'हंस' पत्रिका में सतत जारी है। घनघोर आलोचनाओं एवं विरोध के उपरांत भी 'हंस' ने इस कोशिश को छोड़ा नहीं है। 'हंस' की यही कोशिश हिन्दी साहित्य में उभरे अनेक मतभेदों के बावजूद उसे विस्तृत फलक पर ले जाती है।

# संदर्भ ग्रंथ-सूची

**आधार ग्रंथः-**


1. राजेन्द्र यादव (संपादक) : 'हंस' पत्रिका (2001-2008)
अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली


**संदर्भ ग्रंथः-**


1. आर. चन्द्रा : आधुनिक भारत का दलित आंदोलन
कन्हैया लाल चंचरीक युनिवर्सिटी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003
2. डॉ उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' : सर्वदर्शन संग्रह
चौखम्वा विद्याभवन वाराणसी परिवर्द्धित संसकरण, 2003
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण -2001
4. ओमप्रकाश वाल्मीकि : जूठन
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997
5. कौसल्या वैसंत्री : दोहरा अभिशाप
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण - 1999
6. कंवल भारती : दलित विमर्श की भूमिका
इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 2002
7. कंवल भारती : दलित साहित्य की अवधारणा
बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, यू. पी. प्रथम संस्करण- 2006
8. ज्योतिबा फूले : गुलामगीरी (अनूदित)
संगीता प्रकाशन, शहादरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2000
9. जवाहर लाल नेहरू : मेरी कहानी हिंदी संपादक हरिभाऊ उपाध्याय
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, नवं संस्करण- 1956
10. जय प्रकाश कर्दम : जातिः एक विमर्श
मुहिम प्रकाशन हापुड़, प्रथम संस्करण- 1999
11. पुरूषोत्तम दास सत्यप्रेमी : दलित साहित्य और सामाजिक न्याय

कंचन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1996

12. डॉ भीमराव अम्बेडकर : डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाड्.मय खंड 14, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1998

13. महीप सिंह (सं) : साहित्य और दलित चेतना अभिव्यंजना प्रकाशन, नई
बांदिवडेकर चन्द्रकांत दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1992

15. मधुलिमये : ड्डॉ अम्बेडकर एक चिंतन (हिन्दी संस्करण)
सरदार बल्लभ भाई पटेल एजुकेशन सोसाइटी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1989

16. रमणिका गुप्ता : दलित चेतना: सोच
नव लेखन प्रकाशन, हाजारी बाग, झारखंड, प्रथम संस्करण- 1997

17. श्यौराज सिंह बेचैन : समकालिन हिन्दी पत्रकारिता में दलित उवाच,
अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007

18. शरण कुमार लिंबाले : दलित साहित्यकार सौंदर्य शास्त्र
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007

19. शिव कुमार मिश्र : भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य
अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, परिवर्द्धित संस्करण- 2005

20. सुभाष चंद्र : दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण- 2006

**सहायक ग्रंथ**

1. कांचा इलैया (अनुवाद) मुकेश मानस : मैं हिन्दू क्यों नहीं हूँ
आरोही बुक ट्रस्ट, प्रकाशन, पहला संस्करण- 2003

2. कंवल भारती : राहूल सांस्कृत्यायन और डॉ अम्बेडकर
साहित्य उपक्रम प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2007

3. तेज सिंह : दलित समाज और संस्कृति

आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाण, प्रथम संस्करण-2007

4. एस.एस. गौतम (संपादक) अजय कुमार : आखिर जाति क्यों नहीं जाती?
गौतम बुक सेन्टर, प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण- 2008

5. श्यौाज सिंह 'बेचैन' (संपादक) एस.एस. गौतम : मीडिया और दलित गौतम बुक सेन्टर, प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009

**पत्र एवं पत्रिकाएं:-**

1. अपेक्षा वर्ष 2 अंक 8 जुलाई, सितम्बर 2004
2. अगुत्तर, 1996
3. उत्तर प्रदेश सितम्बर-अक्टूबर 2002
4. बया, अंक:1 वर्ष: 1 दिसम्बर 2006
5. दलित साहित्य - 1999, 2006
6. युद्धरत आम आदमी
7. हमदलित (मासिक) सितम्बर 1993

**पत्र-**

राष्ट्रीय सहारा
बहिष्कृत भारत (अनुवाद) श्यौराज सिंह बेचैन